कथालोक प्रकाशन : २

१९७१

मूल्य ☐ दस रुपये मात्र

प्रकाशक ☐ कथालोक प्रकाशन
१२३७, रास्ता अजबघर,
जयपुर-३.

मुद्रक ☐ अजमेरा प्रिन्टिंग वर्क्स
जयपुर-३.

आवरण शिल्पी ☐ पारस भंसाली

RAJASTHAN KE LOKTIRTH [Essays]

VEDVYAS : MAHENDRA JAIN

प्रकाशकीय

लोक-संस्कृति को प्रकाश में लाने की दिशा में 'कथालोक' को विद्वत्जनों का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त हुआ है। निश्चय ही प्रेरणा के सम्बल-बोल असमर्थ को भी सशक्त बना देते हैं। 'कथालोक' ने वर्ष १९७० के अगस्त व सितम्बर अंकों में राजस्थान की लोक-संस्कृति के 'श्रद्धा पक्ष' को जिस ललित रूप में उजागर किया वह अपूर्व था। आज उसी सामग्री को पुस्तकाकार प्रस्तुत कर पाने का यह साहस उन्हीं प्रेरणाओं का फल है।

'राजस्थान के लोकतीर्थ' की सृष्टि हमारे उन साहित्यकार बन्धुओं का श्रम-सृजन है जिन्होंने प्रदेश के दूरस्थ अंचलों से इसकी सामग्री को एकत्र किया। इस अवसर पर उनका अभिनन्दन करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है। भाई वेदव्यासजी एवं महेन्द्रजी भी बधाई के पात्र हैं जिनका स्पर्श ग्रन्थ की शोभा बन गया है।

विश्वास है 'कथालोक प्रकाशन' की इस दूसरी प्रस्तुति का भी पाठकगण उत्साह से स्वागत करेंगे।

—पन्नालाल बांठिया

स्वकथ्य

तीर्थों का लोकजीवन से नदी-नाव संजोग है, जो मानव की चेतन अवस्था से ही इसके साथ चला आ रहा है। भारत जैसे देश में जहां धर्म अब तक व्यक्ति से ऊपर माना गया है वहां तीर्थ भी ऋषि, मुनि एवं देवस्थल के रूप में माने गये हैं। यही कारण है कि भारत के छोटे से छोटे गांव, खेड़े या ढाणी में भी किसी न किसी देवता या साधु-सन्यासी की मूर्ति सम्पूर्ण पवित्रता के साथ पुजते हुए प्रतिदिन देखी जा सकती है। यहां का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन सभी प्रयासों के विपरीत धर्म से प्रेरित और पल्लवित है। कई युग आये और अनेक अवतार हुए, कई राज्य बने और अनेक राजा सिंहासन पर बैठे, कई धर्म बने और अनेक गुरू आराधित हुए पर अभी तक लोकधर्म या लोकमान्यता के प्रतीक 'लोकतीर्थ' ज्यों के त्यों अपनी गौरवगाथा के साथ हमारी सांस्कृतिक अन्तर्चेतना से जुड़े हैं।

भारत में ये तीर्थ मुख्य रूप से विभिन्न धर्मों से सम्बद्ध हैं; जैसे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन आदि। लेकिन धर्म की अनेकता के बाद भी भारतीय लोकजीवन में व्याप्त एकता की अन्तर्धारा ने इन अलग-अलग धर्मों को एक दूसरे से बहुरूपों में जोड़ रखा है। हिन्दू तीर्थों पर मुसलमानों की अक़ीदत और मुस्लिम तीर्थों पर हिन्दुओं की प्रार्थना इस बात की साक्षी रूप में हर कहीं देखी जा सकती है। इन सभी तीर्थों की एक ही कथा है, जैसे कि विश्व के सभी धर्मों का एक ही रंग है।

कहते हैं—जहां भगवान की मनोहर कथा होती है वहां गंगा, यमुना, वेणी, गोदावरी, सिन्धु और सरस्वती आदि सभी तीर्थ रहते हैं। जिस घर में नित्य पूजा-पाठ होते हैं वह तो घर ही तीर्थ है। जहां साधु के दर्शन हों वह भी तीर्थ है। जहां जड़; चेतन से मिले, अन्धकार; प्रकाश से मिले, बुराई; भलाई से मिले या सद्; असद् से मिले वह तीर्थ है, वही लोक का सबसे पुण्यधाम है। यह तीर्थ नदी के किनारे हो सकता है, यह तीर्थ पहाड़ की कन्दरा या चोटी पर हो सकता है, यह तीर्थ वृक्ष की छांव में या खुली धूप में चबूतरे पर हो सकता है, यह तीर्थ झोंपड़ी के प्रांगण में या महल के किसी स्वर्ण मंडित कक्ष में भी हो सकता है; लेकिन इन सबको आस्था के कथालोक ने जोड़ रखा है, ऋतुओं के परिवर्तन और मान्यताओं के वर्गीकरण ने जोड़ रखा है। 'तीर्थ' का अर्थ है—पवित्र करने वाला।

सामान्यतः उस नदी, सरोवर, मन्दिर अथवा भूमि को तीर्थ कहा जाता है जहां ऐसी दिव्यशक्ति है कि उसके सम्पर्क में जाने पर मनुष्य के पाप अज्ञात रूप से नष्ट हो जाते हैं। ऐसे तीर्थ तीन प्रकार के हैं। प्रथम—**नित्य तीर्थ** (कैलास, मानसरोवर, काशी)। द्वितीय—**भगवदीयतीर्थ** (जहां भगवान का अवतार या लीला हुई हो)। तृतीय – **संततीर्थ** (सन्तों के चरण जहां पड़े हों या वहां उन्होंने देह त्याग किया हो)। इस दृष्टि से सारा भारतवर्ष ही लोकतीर्थ है जिसकी अपनी एक परम्परा और परिवेश है। यहां उत्पन्न हुए मनुष्यों की महिमा का गान देवता तक करते हैं।

महाभारत तथा पुराणवर्णित तीर्थ चार प्रकार के हैं। प्रथम— **प्राप्त तीर्थ** (काशी, पुरी, रामेश्वर, पुष्कर, गोवर्धन, नर्मदा, कावेरी)। द्वितीय— **विकल्पसंयुत तीर्थ** (ऐसे तीर्थ जिनका तय करना संभव नहीं हो पाता कि सही कौनसा है और गलत कौनसा; जैसे— वाल्मिकी आश्रम और शोणितपुर आदि) । तृतीय— **अर्धलुप्त तीर्थ** (ऐसे तीर्थ जिनके स्थान हैं, चिन्ह हैं पर नाम बदल गये हैं या वे बहुचर्चित नहीं हैं; जैसे—कालहस्ती का दुर्गा मन्दिर, कलकत्ता का शक्ति पीठ)। चतुर्थ— **लुप्त तीर्थ** (ऐसे तीर्थ जो अज्ञात हैं जैसे – ध्रुव ने कहां तपस्या की थी या श्री राम ने किस चौकी पर आसन लगाया था)।

अथर्ववेद के अनुसार – **'तीर्थे स्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।'**

यजुर्वेद के अनुसार – **'नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्पयाय च फेन्याय च।'**

महाभारत के अनुसार – तीर्थाटन-तीर्थाभिगमन यज्ञों से भी बड़ा है। विष्णु-स्मृति के अनुसार – महापातकी भी तीर्थानुसरण से शुद्ध हो जाते हैं।

वायुपुराण के अनुसार तीर्थों की संख्या साढ़े तीन करोड़ है जब कि वाराह पुराण में तीर्थों की संख्या ६६ अरब बतलाई गई है। तीर्थ यात्रा का अधिकार सभी को है चाहे वे किसी भी जाति, लिंग या वर्ग के हों। तीर्थ पूजा की अनेकशः विधियां हैं जिनका उल्लेख नवधा भक्ति के अन्तर्गत भी नहीं बांधा जा सकता। तीर्थों का अपना विधि-विधान है जो अलग-अलग दिशाओं में और प्रान्तों में धार्मिक कट्टरता की उतार-चढाव प्रणाली के साथ माना जाता है। भारत के हिन्दू-तीर्थ मुख्य रूप से दो रूपों में (शैव और वैष्णव) बंटे हुए हैं। प्रारम्भ से ही धर्म एवं सम्प्रदाय के लोगों ने तीर्थों को अपनी प्रतिष्ठा एवं सम्पन्नता का स्थान बना रखा है। कुम्भ का मेला, अजमेर का उर्स, तिरुपति का चढ़ावा, नाथद्वारा का प्रसाद-भोग, केदारनाथ की लिंग पूजा आदि इन सबके उदाहरण मात्र हो सकते हैं।

भारतीय लोकजीवन में तीर्थों ने जहां सुदृढ़ सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की भूमिका का निर्माण किया वहां अनगिन जड़ताओं एवं पोंगापन्थियों की लाभ-प्रणाली को भी जन्म दिया। वास्तव में लोकतीर्थों की महिमा एवं गरिमा की शुद्धता को इन बनावटी एवं व्यावसायिक आध्यात्मवादियों ने बहुत नुकसान पहुंचाया है। आज तीर्थ एवं धर्म की संकीर्णता को नष्ट करने का प्रयास ही भारतीय लोक आत्मा की संवेदना को जीवित रख

पायेगा। राजस्थान के तीर्थ इस संदर्भ में कुछ नवीनता और पारम्परिक विशिष्टता रखते हैं। राजस्थान के लिए प्राय: यह सोचा जाता है कि वह एक रेगिस्तान (मरुधर) है जहां पीने को पानी और तन सहलाने को छाया नहीं मिलती। लेकिन यह सब अपूर्ण और विवशता का लेखन है जिसके लिए हम शोध विवाद में न पड़ कर तथ्य परक दृष्टि अपनाते हुए ही वस्तु स्थिति को जान सकेंगे। राजस्थान के विविध लोकगीत, लोककथा, लोकनृत्य एवं लोकतीर्थ इस बात के प्रमाण हैं कि इन तीर्थों में व्यापकता ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीयता का स्वर मुखरित है। गीत तथा कथाओं पर तो अलग-अलग जिले या क्षेत्रों के आधार पर यहां बड़ी संख्या में कहीं भर्ती का और कहीं सही-सही काम भी हुआ है लेकिन **'कथातीर्थ'** का पक्ष इस दिशा में पूरी तरह अछूता रहा है।

भक्तगण जो अपने-अपने देवताओं को पूजते हैं, प्राय: एक स्पष्ट अपूर्णता से बंधे लगते हैं। पुष्करराज में नहाने वाला यह नहीं जानता कि अजमेर में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की मक्कदस दरगाह का क्या महत्व है, तो श्री महावीरजी जाकर आने वाला यह नहीं जान पाता कि रामदेवरा की भूमि किस महत्ता से जुड़ी है। यह क्रम राजस्थान के ही एक तीर्थ के यात्रियों का दूसरे तीर्थ के बारे में रहता है। 'तीर्थ परिचय' के प्रति यह उदासीनता हमारे समाज में पीढ़ियों से चली आ रही है। दस या बीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित 'तीर्थ' एक-दूसरे से पूरी तरह अपरिचित से हैं। इन स्थितियों में व्यक्ति मान्यता या धारणा के स्तर पर पूरी तरह बंट कर रह जाता है फिर उसका यही मानस कुल मिलाकर धार्मिक या लौकिक संकीर्णता को जन्म देता है। अत: यह आवश्यक है कि हम राजस्थान के सभी लोकतीर्थो की एक साथ व्यापक पृष्ठभूमि के साथ परिक्रमा करें।

राजस्थान में ऐसे अनेक तीर्थ हैं जो हमें भारतीय संस्कृति के पुरातन से जोड़ते हैं। **पुष्कर तीर्थ** भारत का तीर्थराज कहलाता है तो **अजमेर** में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह का सालाना उर्स राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय धर्मयात्रियों को अपने अद्भुत मंजर से बांधे हुये है। जिस प्रकार **गोगामेड़ी** में तीर्थ सांपों के देवता गोगाजी अर्थात् जाहरपीर का समाधिस्थल है जो हमें गुरू गोरखनाथ के कालवैभव तक ले जाता है उसी प्रकार **परबतसर** में तेजाजी का मेला 'वचन पालन' की अनुकरणीय गाथा के पक्ष खोलता है। **शीलमाता की डूंगरी** जहां चेचक की बीमारी के निवारण हेतु पूजा का स्थल माना जाता है तो **देशनोक** में चूहों की भीड़ में देवी की पूजा, असंख्य लोगों का ध्यान धार्मिक शक्ति की ओर इंगित करती है। **तिलवाड़ा** में रावल मल्लिनाथ, **गलियाकोट** में दाउदी बोहरा समुदाय के जनाब फखरुद्दीन, **श्री महावीरजी** में भगवान महावीर, **मुकाम** में विश्नोई जाति के धर्मगुरू जांभोजी, **भरतृहरि** में राजा भरतृहरि, **ऋषभदेव** में केसरियाजी, **रामदेवरा** में अछूतों के आराध्य (मुख्यरूप से) रामदेवजी, **मेंहदीपुर** में हनुमानजी, सीकर जिले के रेवासा ग्राम के पास **जीणमाता** के मन्दिर में चौहान कुलोत्पन्न भगवती जीण और **गलताजी** में गाल्व ऋषि के व्यक्तित्व पूजा के महत्वपूर्ण तीर्थधाम हैं वहां **कोलायतजी, कैलादेवी, एकलिंगजी, बैंशाखी, केशोराय पाटण, ओसियां, रणथम्भोर, रणकपुर, नाथद्वारा, लोहार्गल, बेणेश्वर** आदि तीर्थ पौराणिक महत्व के देवी-देवताओं की स्मृति परक भूमिका के पर्याय हैं।

राजस्थान के यह लोकतीर्थ समय-काल और परिस्थिति के विभिन्न स्वरूपों पर एक साथ कुछ कहते से लगते हैं। यहां के लोहार्गल तीर्थ को महर्षि वेदव्यास ने बदरीकाश्रम के तुल्य माना है। इसी प्रकार आबू का दिलवाड़ा जैन मन्दिर, कैलाशपुरी का एकलिंगजी मन्दिर, रणकपुर का जैन मन्दिर तथा केशोरायपाटण, मंडोर के मन्दिर भारतीय कलामूल्यों की विकसित एवं प्रभावशाली दिशा पर गहरा प्रकाश डालते हैं। राजस्थान के लोकतीर्थ सभी स्वरूपों में यहां के लोकरंग को दर्शाते हैं जिनकी तुलना में भारत का अन्य तीर्थ परिवार नहीं हो सकता।

राजस्थान के तीर्थों की यह परिक्रमा किसी आकस्मिक विचार या प्रेरणा का विषय नहीं रही अपितु एक लम्बी लोकविविधा एवं मनोदशा की परिकल्पना रही है। लम्बे उतार-चढ़ाव और विधान के बाद यह योजना पाठकों को हम पहली बार **कथालोक** (मासिक) के (अगस्त, सितम्बर व अक्तूबर, ७० अंक) माध्यम से दे पाये थे। खंडों में विभक्त इस तीर्थ यात्रा को सभी पाठकों ने (खासकर राजस्थान के बाहर) परिचय एवं नवीनता के स्तर पर भलीभांति सराहा। इस पाठकीय प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप ही हमने इन बिखरे चित्रों को 'राजस्थान के लोकतीर्थ' क्रम में एक साथ प्रस्तुत किया है जो किसी शोधकर्ता के लिये भी उतने ही उपयोगी हैं जितने कि असंख्य उत्सुक तीर्थ यात्रियों के लिये।

राजस्थान के लोकजीवन से सम्बद्ध अन्य विषयों पर भी हम आने वाले समय में कुछ और संग्रहणीय सामग्री देने के प्रयास में रत हैं जिसे आपका अनुभूतिपरक विचार-संकेत सफल बनायेगा, ऐसी आशा है।

'राजस्थान के लोकतीर्थ' के सहयोगी लेखकों के प्रति आभार तो मात्र औपचारिकता होगी। मैं एक कलमजीवी के नाते सभी साथी लेखकों को उनके आत्मीय योग के लिये **कथालोक परिवार** एवं व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद देता हूँ। मेरे लेखक साथियों का बल ही मेरा बल है यह कहते मुझे प्रसन्नता अनुभव हो रही है।

'कथालोक' और **'लोकतीर्थ'** बहुत सीमा तक परिक्रमा के दो उज्जवल बिन्दु हैं जिन्हें मैं चन्द शब्दों से नहीं बांधना चाहता। भाई महेन्द्र जैन, श्री पन्नालाल बांठिया, भाई योगेशचन्द्र शर्मा और आवरण सज्जाकार भाई पारस भंसाली मेरी इस तीर्थ यात्रा में कथा के हर अंग से जुड़े हैं, जिन्हें मैं कभी भूल नहीं पाऊंगा।

प्रस्तुत 'रचना' आपको चेतना देगी, इसी मत-सम्मत के लिये प्रस्तुत है।

स्वतन्त्रता दिवस, १९७१
आकाशवाणी, जयपुर-१.

—वेद व्यास

परिक्रमा

•   •   •

पुष्करराज	११	श्री शमशेरसिंह जनगणना विभाग, जयपुर-४.
गौगामेड़ी	१६	श्री सूर्यशंकर पारीक वी. के. विद्यालय के पास, बीकानेर.
परवतसर	२२	श्री नानूराम संस्कर्ता पो० कालू, वाया लूनकरणसर, बीकानेर.
शीलमाता की डूंगरी	२८	श्री चिरंजीलाल माथुर 'पंकज' आकाशवाणी, जयपुर-४.
अजमेर	३१	श्री हमीदुल्ला खां राजस्थान सचिवालय, जयपुर-५.
सीतावाड़ी	३५	श्री व्रजेश चंचल शारदा सदन, वृजराजपुरा, कोटा-६.
देशनोक	३८	श्री चन्द्रदान चारण भारतीय विद्या मन्दिर, बीकानेर.
तिलवाड़ा	४३	श्री भूरचंद जैन जूनी चौकी का वास, बाडमेर.
गलियाकोट	४७	श्री केदार शर्मा कृषि विभाग, जयपुर-५.
श्रीमहावीरजी	५२	श्री राजेशकुमार राजस्थान पत्रिका, जयपुर-३.
कोलायतजी	५५	श्री श्रीलाल नथमल जोशी सोनगिरी चौक, बीकानेर.
मुकाम	५६	डा० हीरालाल माहेश्वरी सी-६८ ए, मोती मार्ग, बापू नगर, जयपुर-४.
कैलादेवी	६३	श्री वृजेश कुलश्रेष्ठ एफ-१७४, बापू नगर, जयपुर-४.

मंडोर	६६	डा० मदनराज दौलतराम मेहता १-सी, सरदारपुरा, जोधपुर.
भरतृहरि	६६	डा० जयसिंह नीरज राजपूत छात्रावास, अलवर.
ऋषभदेव	७१	डा० नरेन्द्र भानावत सी २३५ ए, तिलक नगर, जयपुर-४.
हरसनाथ	७५	डा० मनोहर शर्मा शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर.
एकलिंगजी	७८	श्री रामवल्लभ सोमानी पुरातत्व विभाग, जयपुर-४.
रामदेवरा	८१	श्री मूलचन्द 'प्राणेश' ५/६००, कोटगेट, बीकानेर.
नाकोड़ाजी	८४	श्री भंवरलाल वारहठ स्टेट बैंक आफ बीकानेर एण्ड जयपुर बालोतरा (बाडमेर).
मेंहदीपुर	८७	श्री योगेशचन्द्र शर्मा राजकीय महाविद्यालय, दौसा (जयपुर).
राणीसती	९१	श्री रामदत्त सांकृत्य मंत्री, साहित्य संस्थान, चूरू.
केशोरायपाटण	९४	श्री श्रीनन्दन चतुर्वेदी १४/३१९, डाकोतपाड़ा, कोटा-६.
गोतमेश्वर	९७	श्री हिम्मत मालवीय पो० रानी, (जिला पाली).
सकरायमाताजी	१००	श्री बाबूलाल शर्मा पो० सकराय माताजी, (सीकर).
ओसियां	१०३	श्री पन्नालाल बांठिया बांठिया बिल्डिंग, हल्दियों का रास्ता, जयपुर-३.
जीणमाता	१०६	श्री सौभाग्यसिंह शेखावत राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर.
डिग्गी	१०९	श्री विजयकुमार पुरातत्व व संग्रहालय विभाग, जयपुर-४.
रणथम्भौर	१११	श्री महेन्द्र जैन १२३७, रास्ता अजबघर, जयपुर-३.
रणकपुर	११५	श्री वेद व्यास आकाशवाणी, जयपुर-१.

नारायणीमाता	११८	श्री रावत सारस्वत मीरा मार्ग, वनी पार्क, जयपुर-६.
लोद्रवा	१२१	डा० केशरीमल 'केशरी' 'चेतन प्रहरी' मासिक, वाडमेर.
नाथद्वारा	१२३	श्री व्रजेन्द्र रेही ६, मार्केट एरिया, अशोक नगर, उदयपुर.
आबूपर्वत	१२५	श्री महेश व्यास पो० लूनी जंकशन, (जोधपुर).
गलताजी	१२८	श्री सत्यप्रिय नागर ए-१३१, आदर्श नगर, जयपुर-४.
लोहार्गल	१३१	श्री हनुमंतप्रसाद मिश्रा खेतड़ी (झुन्झुनू).
वेणेश्वर	१३३	डा० महेन्द्र भानावत भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर.
वाणगंगा	१३६	श्री कैलाशचन्द्र शर्मा आकाशवाणी, जयपुर-१.
श्रीगढ़बोर	१३८	श्री सनीलाल सोनकर आकाशवाणी, जम्बू (काश्मीर).
वैशाखी	१४१	श्री दीनदयाल ओझा बिन्नाणियों का चौक, बीकानेर.
धनोप	१४३	श्री वृजमोहनसिंह परमार पुरातत्व विभाग, जयपुर-४.
कांकरोली	१४५	श्री सीताराम गुप्त ४१, कान्ति नगर, जयपुर-६.
नई	१४७	श्री झूंथालाल नांढला पो० बस्सी, (जयपुर).
शाहपुरा	१४९	श्री ब्रह्मदत्त शर्मा बी-४२, गणेश मार्ग, बापू नगर, जयपुर-४.

□ □ □

राजस्थान के
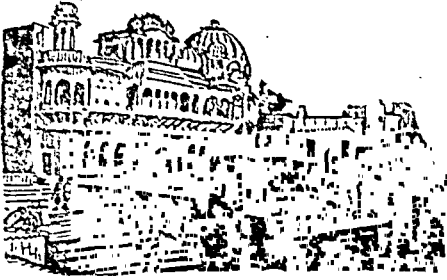
पुष्करराज

• श्री शमशेर सिंह

तीर्थराज पुष्कर अजमेर के उत्तर-पश्चिम में ११ किलोमीटर की दूरी पर अरावली पर्वत की सुरम्य घाटी में समुद्र तल से ५३० मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। पुष्कर की जनसंख्या लगभग ८,००० है। अजमेर से पुष्कर का रास्ता प्रसिद्ध आनासागर झील के किनारे-किनारे होता हुआ नाग पर्वत को लांघ कर पुष्कर की घाटी में प्रवेश करता है। पुष्कर की गणना हिन्दुओं के पांच मुख्य तीर्थ-स्थलों में की जाती है। चार अन्य मुख्य तीर्थ हैं कुरुक्षेत्र, गया, गंगा तथा प्रयाग।

प्रत्येक पूर्णिमा को लगभग २,००० यात्री यहां आते हैं। प्रत्येक वर्ष कार्तिक शुक्ला एकादशी से कार्तिक पूर्णिमा तक पुष्कर में एक विशाल मेला भरता है जिसमें देश के कौने-कौने से लगभग डेढ़ लाख यात्री भाग लेते हैं। वैशाख शुक्ला एकादशी से वैशाखी पूर्णिमा तक एक और भी मेला यहाँ लगता है जिसमें आस-पास के स्थानों के लगभग ६,००० यात्री भाग लेते हैं। सामान्य दिनों में भी पुष्कर की यात्रा करने वालों की संख्या काफी रहती है जिनकी सुविधा के लिये अजमेर से बसें, तांगे आदि चलते रहते हैं। पुष्कर का निकटतम रेल्वे स्टेशन अजमेर है जो पश्चिमी रेल्वे की दिहली-अहमदाबाद लाइन पर स्थित है। कार्तिक मेले के समय रेल्वे विभाग की ओर से विशेष रेलें तथा राज्य परिवहन निगम द्वारा विशेष बसें चलाई जाती हैं। इनके अलावा बहुत से यात्री देश के कई भागों से विशेष बसों द्वारा पुष्कर आते हैं।

यात्रियों की सुविधा के लिये पुष्कर में लगभग २५ धर्मशालायें हैं जहां वे तीन दिन तक विना किसी शुल्क के ठहर सकते हैं।

पौराणिक युग से ही पुष्कर पर स्नान, दान, तर्पणादि का विशेष महात्म्य है। पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड में पुष्कर की उत्पत्ति व महत्ता का विशद वर्णन है। पितामह ब्रह्मा को एक वार यज्ञ करने की उत्कट इच्छा हुई। तो उनके सामने यह समस्या खड़ी हुई कि यज्ञ किस स्थान पर किया जाये। उन्होंने सोचा कि भगवान विष्णु की नाभि से प्रकट हुए उस कमल को (जिससे ब्रह्मा जी स्वयं प्रकट हुए थे) ही वेदपाठी ब्राह्मण पुष्कर तीर्थ कहते हैं। तीर्थराज पुष्कर उसी का व्यक्त रूप है। इस प्रकार सोचकर उन्होंने एक कमल को इस इच्छा से पृथ्वी पर गिरा कर तीन वार उछाला और उन तीनों जगह पर उसकी पंखड़ियां विखर गईं जहां से जल प्रकट हुआ। यह तीनों स्थान ही क्रमशः—ज्येष्ठ, मध्य, व कनिष्ठ पुष्करों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन तीनों पुष्करों के स्वामी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश हुए। ज्येष्ठ पुष्कर ही सामान्यतः पुष्कर कहलाता है। कनिष्ठ पुष्कर बूढ़ा पुष्कर भी कहलाता है।

इस यज्ञ में ब्रह्मा जी ने सभी देवताओं तथा ऋषि-मुनियों को आमन्त्रित किया। कार्तिक शुक्ला एकादशी को यज्ञ प्रारम्भ हुआ। एक योजन भूमि ब्रह्माजी ने यज्ञ के लिए निश्चित की अतः इस पुण्य क्षेत्र का विस्तार एक योजन है। प्रत्येक आमंत्रित देवतादि को उनका काम सौंप दिया गया। जब यज्ञ की सभी तैयारियां पूरी हो चुकी, सभी आमंत्रित गण अपने अपने सुनिश्चित कर्म में प्रयुक्त हो गये और ब्रह्माजी यज्ञ की दीक्षा लेने को तैयार हुए तो उन्हें मालूम हुआ कि उनकी पत्नी सावित्री वहां नहीं है। नारदजी को उन्हें वुलाने भेजा गया। सावित्री ने संदेश पाकर पवन को लक्ष्मी, पार्वती व इन्द्राणी को वुलाने भेजा और ब्रह्माजी को यह कहलवा दिया कि वे उन तीनों के साथ आयेंगी। इधर दीक्षा का मुहूर्त निकलता जा रहा था। ब्रह्माजी सिर पर अमृत कलश लिये खड़े थे। जब देर होती दिखाई दी तो उन्होंने इन्द्र से कहा कि किसी कन्या को शीघ्र यहां ले आओ जिससे विवाह कर मैं यज्ञ प्रारम्भ करूं क्योंकि यह दीक्षा का मुहूर्त निकलता जा रहा है और साथ ही मुझे अमृत कलश का भार वहन करने में कठिनाई हो रही है। इस आज्ञा को पाकर इन्द्र गया और एक गुर्जर कन्या को ले आया। यज्ञ स्थल पर लाने से पूर्व उसने उस कन्या को एक गाय के शरीर में मुख की ओर से प्रविष्ट कराकर पूंछ की ओर से निकाल कर शुद्ध किया। यज्ञ-स्थल पर उस कन्या को लाते ही उसने यह वृतांत कहा—सभी उपस्थित जनों ने गाय के गर्भ से जन्म लेने के कारण उस कन्या को पवित्र व द्विज माना। गाय के गर्भ से जन्म होने के कारण यह गायत्री नाम से विख्यात हुई। ब्रह्माजी ने गायत्री से विवाह कर यज्ञ का कार्य आरम्भ किया।

यज्ञ का कार्य प्रारम्भ हुआ ही था कि उसमें अकस्मात बाधा उठ खड़ी हुई। एक नंग-धड़ग आदमी अचानक ही न जाने कहां से आया और 'आत्मत्', 'आत्मत्' चिल्लाते हुए उसने एक खोपड़ी फेंक दी। जब उस खोपड़ी को बाहर फिकवाया जाने लगा

तो वहां एक की बजाय दो खोपड़ियां दिखाई दीं और जैसे जैसे उन्हें वहाँ से हटाया गया उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अन्त में भगवान शिव ने ब्राह्मणों के निवेदन पर इस शर्त के साथ सब खोपड़ियां हटवाई कि पुष्कर में उनका भी एक स्थान बनेगा। इस पर एक शिव-लिंग की स्थापना हुई जो 'आत्मतेश्वर' नाम से विख्यात हुआ क्योंकि यह नंगा आदमी, जो वास्तव में भगवान पिनाकपाणि ही थे, वहां 'आतमत्', 'आतमत्' चिल्लाते हुए आये थे। इस स्थान का अपभ्रंश नाम अटपटेश्वर भी है।

यज्ञ का कार्य फिर प्रारम्भ हुआ ही था कि ब्रह्माजी की स्त्री सावित्री वहां आई। उन्होंने गायत्री को ब्रह्माजी के पास बैठकर यज्ञ विधान करते देखा तो सारी स्थिति उनकी समझ में आगई। ब्रह्माजी द्वारा दूसरी स्त्री से विवाह कर लेने के कारण वह न केवल उन्हीं पर बल्कि यज्ञ में भाग लेने वाले सभी देवतादि पर अत्यन्त क्रोधित हुई और उन्होंने उन सबको श्राप दिया तथा नाराज होकर पास के एक पर्वत शिखर पर चली गई जहां उनका एक मन्दिर बना हुआ है। उनके चले जाने पर ब्रह्माजी ने उपस्थित जनों से यज्ञ आरम्भ करने के लिए कहा तो उन सभी ने उनको निवेदन किया कि पहले सबका श्राप निवारण होना चाहिये। गायत्री ने उन सभी का श्राप निवारण किया और इस प्रकार उनका एक नाम श्राप-विमोचिनी हुआ।

इसके बाद दक्षिण-दिशा से कुछ ब्राह्मण वहां आये। वे सभी के सभी बहुत कुरूप थे। जैसे ही उन्होंने पुष्कर में स्नान किया वे सुन्दर हो गये। जिस स्थान पर उन्होंने स्नान किया वह 'सुरूप घाट' के नाम से जाना जाता है।

कार्तिक शुक्ला द्वादशी को ब्राह्मणों ने ब्रह्मा जी से पूछा कि कहां नहायें। ब्रह्मा जी ने उन्हें प्राची सरस्वती में स्नान करने को कहा। सरस्वती जो लुप्त हैं; पुष्कर में पांच धाराओं—सुप्रभा, सुधा, कनका, नन्दा तथा प्राची सरस्वती के रूप में प्रकट हुई हैं। इन पांच धाराओं में से प्रथम तीन तो क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम व कनिष्ठ पुष्कर में गिरती हैं। नन्दा व प्राची सरस्वती नन्द के पास मिलती हैं और वहां से लूनी नदी के नाम से जानी जाती हैं। इस दिन यज्ञ में ब्रह्माजी के पुत्र सनातन ऋषि के पुत्र वटु ने यज्ञशाला में एक सांप छोड़ दिया जो भृगु ऋषि के पांवों से लिपट गया। इस पर क्रोधित होकर भृगु ऋषि के पुत्र च्यवन ने वटु को सर्प बनने का श्राप दिया। इस श्राप से घबरा कर वटु पितामह ब्रह्मा के पास पहुंचा। ब्रह्माजी ने उसे ढाढस बंधाया और वरदान दिया कि वह नागों के नवें कुल का चलाने वाला कुलपुरुष होगा और उन्होंने उसे समीप ही नाग-पर्वत पर रहने का आदेश दिया। यह जगह 'नाग-कुण्ड' के नाम से जानी जाती है। श्रावण कृष्णा पंचमी को यहां स्नान पूजन का विशेष महत्व है।

इसके बाद कार्तिक पूर्णिमा तक यज्ञ का कार्य निर्विघ्न चलता रहा। इस दिन ब्रह्माजी ने ब्राह्मणों को पुष्कर क्षेत्र में स्थित सभी कुण्डों आदि की परिक्रमा कर 'गया कूप' (गया कुण्ड) में स्नान करने को कहा।

यज्ञ पूरा होने पर पुष्कर इतना पवित्र तीर्थ बन गया कि इसे तीर्थराज की संज्ञा प्राप्त हुई। बड़े से बड़े पापी भी यहां केवल स्नान मात्र के पापों के चंगुल से छूट कर स्वर्ग के अधिकारी होने लगे। इस पर देवताओं ने ब्रह्माजी से अनुरोध किया कि यदि यही क्रम चलता रहा तो सभी लोग स्वर्ग पहुंच जायेंगे और सृष्टि क्रम चलना मुश्किल हो जायेगा। इस पर ब्रह्माजी ने कहा कि अब से यहाँ पर तीर्थ का वास केवल कार्तिक शुक्ला एकादशी से कार्तिकी पूर्णिमा तक ही रहेगा और बाकी समय में तीर्थ अन्तरिक्ष में वास करेगा। 'आपोहिष्टा मयो भुवास' आदि मन्त्रों से पाठ करने पर सामान्य दिनों में भी पुष्कर पर तीर्थ का फल होता है। शूद्रों को केवल 'ओम् नमो भगवते वासुदेवा' मन्त्र का जाप करने से ही तीर्थ का फल प्राप्त होता है।

कालान्तर में इस तीर्थ का विस्मरण हो गया और मंडोर के राजा नहारराव (नहाड़राव) परिहार द्वारा इसका पुनरुद्धार हुआ। राजा नहारराव एक शूकर का आखेट करते हुए इस स्थान पर जा निकले और उन्होंने यहां के जल से आचमनादि किया तो उनका बहुत दिनों का एक असाध्य चर्म रोग जल-स्पर्श के कारण ठीक हो गया। इस स्थान की ऐसी महत्ता ने यहां पर एक ताल खुदवाया और घाट बनवाये। ऐसी आख्यायिका है कि इस ताल को खोदने का कार्य गुर्जर-गौड़ ब्राह्मणों द्वारा हुआ। जो ब्राह्मण इस कार्य में लगे वे पुष्करणा ब्राह्मण के नाम से विख्यात हुए।

पुष्कर झील अन्डाकार है। यह लगभग १० मीटर गहरी है। इसके चारों ओर ५२ घाट हैं जिनमें से वराह घाट, ब्रह्म घाट व गऊ घाट विशेष प्रसिद्ध हैं। वराह घाट पर स्नान का विशेष महत्व माना जाता है क्योंकि ऐसी आख्यायिका है यहां विष्णु भगवान वराह के रूप में प्रकट हुए थे। ब्रह्म घाट पर ब्रह्माजी ने यज्ञ की पूर्ति कर विष्णु व महेश के समक्ष स्नान किया था। सन् १७०५ ईस्वी में सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी ने गऊ घाट पर ग्रंथ साहब का पाठ किया था। सन् १८०९ ईस्वी में मराठों ने यहां सवा लाख रुपया खर्च कर एक छतरी बनवाई। सन् १९११ ईस्वी में जार्ज पंचम की स्त्री रानी मेरी ने गऊ घाट पर जनाना घाट बनवाया। इसी घाट पर महात्मा गांधी की अस्थियों का विसर्जन हुआ था और तभी से यह गांधी घाट भी कहलाता है। इसी घाट पर प्रातः सायं दोनों संध्याओं के समय पुष्करराज का पूजन व आरती होती है तथा दीपदान किया जाता है। जल पर तैरते हुए जलते दीपक मनोरम दृश्य उत्पन्न करते हैं। राजस्थान के लगभग सभी राजघरानों व अन्य वनिक के मकान पुष्कर झील के चारों ओर बने हैं। पुष्कर की सीमा में किसी भी प्रकार की जीव-हत्या निषिद्ध है।

मेले के दिनों में तो प्रातः तीन बजे से ही यात्री पुष्कर स्नान तर्पणादि प्रारम्भ कर देते हैं जो दिन भर चलता रहता है। नारियल, फूल, चन्दनादि से पुष्कर का पूजन कर यात्री नहाते तथा आचमनादि करते हैं। तत्पश्चात् पूर्वजों का नाम लेकर तर्पण दानादि करते हैं। मिट्टी के प्रज्ज्वलित दीपक पत्तों पर रख कर जल में प्रवाहित किये जाते हैं क्योंकि यहां दीपदान का विशेष महात्म्य माना जाता है। इसके बाद यात्री ब्रह्माजी

के मन्दिर में दर्शन करने जाते हैं । ऐसी जनश्रुति है कि सारे भारत में केवल यही एक ब्रह्माजी का मंदिर है। ज्येष्ठ पुष्कर पर स्नानादि कर बहुत से यात्री मध्यम व कनिष्ठ पुष्कर दोनों पर अथवा केवल कनिष्ठ पुष्कर पर स्नान तर्पणादि के लिए जाते हैं। ज्येष्ठ पुष्कर से मध्यम पुष्कर व कनिष्ठ पुष्कर क्रमशः ५ व ८ किलोमीटर पर स्थित हैं। तीनों पुष्करों की परिक्रमा पांच कोसी परिक्रमा कहलाती है। पुष्कर के चारों ओर स्थित सभी पुण्य स्थलों की परिक्रमा चौबीस कोसी परिक्रमा कहलाती है जो सात दिन में पूरी होती है। इसे पँचभीष्म स्नान भी कहते हैं।

ज्येष्ठ पुष्कर से एक किलोमीटर की दूरी पर भर्तृहरि की गुफा है। ऐसी जनश्रुति है कि राजा भर्तृहरि ने यहां योग लेने के बाद तपस्या की थी । यह भी दर्शनीय स्थल है।

ज्येष्ठ पुष्कर से ६ किलोमीटर की दूरी पर गया कुन्ड है जहां यदि किसी भी महीने की शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को मंगलवार हो तो गया तीर्थ का आविर्भाव माना जाता है। इस अवसर पर आस-पास के स्थानों से हजारों यात्री यहां आते हैं।

पुष्कर में लगभग ४०० मन्दिर हैं जिसमें ब्रह्माजी का मन्दिर मुख्य कहते हैं। इसे औरंगजेब के राज्यकाल में तोड़ दिया गया था । सन् १७१६ ईस्वी में जयपुर की एक ब्राह्मण स्त्री ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। बाद में दौलतराव सिन्धिया के एक मन्त्री गोकुलचन्द्र पारीक ने इसे बनवाया। ब्रह्माजी के मन्दिर के पास के पहाड़ों की चोटियों पर सावित्री व श्रापमोचिनी (गायत्री) के मन्दिर हैं। नये बने मन्दिरों में रंगजी का मन्दिर दर्शनीय है । यहां विष्णु, लक्ष्मी व नृसिंहजी की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं।

मेले के दिनों में पुष्कर एक बहुत ही कार्यरत व शोर-शराबे से पूर्ण स्थान हो जाता है। अजमेर तथा आस-पास के अन्य इलाकों से सैकड़ों दुकानदार तरह तरह का सामान मेले में बेचने के लिए लाते हैं। इन दुकानदारों में अधिकतर हलवाई तथा छोटी-मोटी चीजें बेचने वाले होते है। एक अस्थायी बाज़ार लग जाता है । काठियां, रकाब, झूले, गोरबन्द, मालायें, घंटियां, हाथीदांत का सामान, छपे हुए कपड़े, पीतल के बर्तन आदि नागौर, मेड़ता, अजमेर, जोधपुर व जयपुर आदि से बिकने के लिए आते हैं। मनिहारी व अन्य छोटे-मोटे सामानों की दुकानें सड़क के दोनों ओर लग जाती हैं। मेले में आने वालों के मन बहलाने के लिए तरह-तरह के मनोरंजनों के साधन जैसे सिनेमा, नुमाइश, सांस्कृतिक प्रोग्राम तथा विभिन्न खेलों की प्रतियोगिताओं आदि का आयोजन किया जाता है। बहुत से भोपा, भगत, भाट आदि पुराने वीरों की वीर-गाथायें आदि गाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं। साधू, सन्यासी, दवा बेचने वाले आदि भी बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे होते हैं।

गोगामैड़ी

• श्री सूर्यशंकर पारीक

राजस्थान के लोक-देवता गोगाजी चौहान की मान्यता राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, हिमाचल, मध्यप्रदेश, गुजरात एवं दिल्ली आदि प्रांतों में एक लम्बे काल से रही है। गोगाजी पंच पीरों में एक प्रसिद्ध पीर तथा सांपों के देवता माने जाते हैं। गोगामैड़ी उनका सबसे बड़ा स्मारक तथा धाम है, जहां उनकी स्मृति में प्रति वर्ष भाद्र पद मास में दो बड़े मेले लगते हैं। राजस्थान के लोक-तीर्थों में गोगामैड़ी का विशिष्ट स्थान है। लाखों लोगों का यह श्रद्धा स्थल है।

गोगामैड़ी राजस्थान के गंगानगर जिले में नोहर कस्बे से लगभग ३६ किलोमीटर दक्षिण में है तथा उत्तर रेल्वे के सादुलपुर जंकशन से हनुमानगढ़ जाने वाले रेल-पथ का एक छोटा स्टेशन है। यहां से गोगामैड़ी मंदिर १ किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में है।

वास्तव में 'गोगामैड़ी' नाम गोगाजी की समाधि पर बने मंदिर का है। मैड़ी ऊंचे स्थान पर बने मकान को कहते हैं जो 'छोलदारी' के आकार का बना हुआ होता है। गांवों में आज भी इस प्रकार के छत पर बने हुए मकान को प्रायः मैड़ी कहा जाता है। गोगामैड़ी भी समतल भूमि से ऊंचाई पर बनी हुई है।

गोगामैड़ी की बनावट मकबरानुमा है जिसके चारों कोनों पर ऊंची दीवारें हैं तथा सभा मंदिर के दरवाजे की ऊंचाई पर 'बिस्मिल्ला' अंकित एक पत्थर लगा हुआ है। मुंशी सोहनलाल ने भी इसे 'मकबरा' अथवा एक छोटा मकान ही बताया है।

आज जैसा कि गोगामैड़ी का चित्ताकर्षक रूप दृष्टिगोचर होता है, उसका श्रेय महाराजा श्री गंगासिंहजी को है, जिन्होंने वि० सं० १९६१ में जीर्णोद्धार कर मैड़ी को यह वर्तमान रूप दिया।

गोगामैड़ी का मुख्य दरवाजा 'सूरजसांमी पोल' के अनुसार पूर्वाभिमुख है जिसके दाहिनी ओर एक जाल का पेड़ लगा हुआ है।

मुख्य दरवाजे से कुछ सीढ़ियां ऊपर चढ़ने पर आगे चौड़ा आंगन आता है। आंगन के चारों ओर कमरे तथा मुख्य दरवाजे पर सुन्दर गवाक्ष खुलते हैं। इसी आंगन के मध्य में एक वृहदाकार चौरस चौकी है। चौकी के बीच में गोगाजी की मैड़ी बड़े कमरे के आकार की बनी हुई है। कमरे को समाधि स्थल अथवा सभा मंदिर भी कहते हैं जिसके दरवाजे पूर्व तथा उत्तर की ओर खुलते हैं।

सभा मंदिर के मध्य भाग में गोगाजी की संगमरमर की समाधि है। समाधि पर सामने अश्वारोही गोगाजी की उत्कीर्ण देवली है जिसके आगे-पीछे चामर तथा मोरछाल लिये हुए परिचारकों का अंकन है। देवली के शीर्षकोणों पर चन्द्र तथा सूर्य के आकार उत्खनित हैं।

जिस चौरस चौकी पर मैड़ी निर्मित हुई है उसी पर बाहर दक्षिण की ओर नारसिंघ (नृसिंह) कुंड है, जिसका अधिष्ठाता एवं पुजारी ब्राह्मण है। मुंशी सोहनलाल ने भी मैड़ी के कुछ हिस्से पर ब्राह्मणों के पूजा अधिकार का उल्लेख 'तवारीख राजश्री बीकानेर' में किया है।

मैड़ी के निचले वाले आंगन में बांई ओर एक छोटा-सा चबूतरा है जिस पर चायलों ने एक पत्थर को, जिस पर पुतलियां उत्कीर्ण की हुई हैं, सिन्दूर अर्चित कर खड़ा कर रखा है जिसको वे नृसिंह का स्वरूप बतलाते हैं जबकि वास्तव में यह नृसिंह प्रतिमा नहीं है।

गोगामैड़ी के आस-पास चाहर दीवारी के बाहर चौड़ी-चौड़ी प्राचीन ईंटों की बहुत सी कब्रें पाई जाती हैं।

मैड़ी के चारों ओर दूर-दूर तक जंगल है जो गोगाजी की 'बणी' 'ओयण' एवं 'जोड़' नाम से पुकारा जाता है।

गोगामैड़ी में गोगाजी की पवित्र समाधि के दर्शन् सेवा-बंदगी तथा समाधि-भवन में प्रवेश के संबंध में किसी प्रकार का जातीय भेदभाव नहीं है। ऊंच और नीच का भेदभाव मिटाने में लोक देवताओं की सबसे बड़ी विशेषता रही है। जातीय कट्टरपन को दूर करने में इनकी देन महान् है।

गोगामैड़ी की चहार दीवारी में मांचा ढालकर सोना सर्वथा निषिद्ध है।

मैड़ी के ओयण (रक्षित-जंगल) से लकड़ियां घर ले जाना मना है। लोक-विश्वास के अनुसार जब कोई यहां से लकड़ियां ले गया है, तब वे घर ले जाने पर सांपों में परिणत हो गई हैं।

मेले पर आने वाले गोगाजी के श्रद्धालु यात्री 'गोरखाणा तालाव' की मिट्टी अपने साथ ले जाते हैं। उनका विश्वास है कि सांप काटे पर इस मिट्टी का लेप करने से रोगी को तत्काल आराम हो जाता है।

राजस्थान में लोक-देवताओं के पूजा-स्थानों में गोगाजी की 'मैड़ी' अथवा 'थान' का प्रमुख स्थान है। प्रायः राजस्थान के प्रत्येक गांव में खेजड़ी के नीचे गोगाजी का 'थान' होता है। 'गांव-गांव में गोगा खेजड़ी' कहावत का इसी ओर संकेत है।

गोगाजी के प्रमुख पूजा-स्थलों में गोगामैड़ी तथा ददरेवा (चूरू) की मैड़ी का ही स्थान है। गोगामैड़ी, 'धुरमैड़ी' और ददरेवा की मेड़ी 'शीसमैड़ी' कहलाती है। कहते हैं, गोगाजी का माथा रणक्षेत्र में जूझते हुए ददरेवा में गिरा था, वे जूंझार होकर बिना माथे, कबंध से लड़ते-लड़ते गोगामैड़ी तक पहुंचे, जहाँ उनका धड़ गिरा।

इसके अतिरिक्त गोगाजी के पूज्य-स्थलों में विल्यूं, गोगासर, लूंछ, काँगड़ तथा चुरू आदि की मैड़ियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

सर्वप्रथम गोगामैड़ी का निर्माण किसने करवाया एवं यह महत्व इस स्थान का कबसे आरम्भ हुआ? इसके श्रेय का अधिकारी कौन? इस सम्बन्ध में निश्चित कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

प्रथम किंवदन्ती के अनुसार गोगामैड़ी का निर्माता मुहम्मदगौरी था। गौरी ने गोगाजी की मनौती की, कि यदि वह शत्रुओं से विजयी हुआ तो यहां मैड़ी बनवायेगा। एक दूसरी धारणा के अनुसार मुहम्मद गौरी का यहां युद्ध हुआ था जिसमें उसके प्रमुख रिश्तेदार मारे गये। कहते हैं उन्हीं को पूजने के लिए गौरी ने यह स्थान गोगामैड़ी के नाम से प्रख्यात किया।

दूसरी किंवदन्ती के अनुसार मैड़ी के निर्माण का श्रेय एक ब्राह्मण को है। कहते हैं वह ब्राह्मण मैड़ी के आस-पास के जंगल में अपनी गायें चराया करता था। उनमें से एक गाय को प्रतिदिन एक नाग 'चूंग' (दूध पी जाना) जाता था। ब्राह्मण इस घटना से बड़ा ही चकित था। निदान हेतु उसने अपनी गायों पर दृष्टि रखी तो एक दिन देखा कि गाय का दूध तो एक विशाल नागराज पी जाता है।

ब्राह्मण ने नाग के आश्चर्यजनक कार्य को देखकर कहा—हे नागराज! यह क्या माया है?

नागराज गोगा ने प्रत्युत्तर दिया—दादा ! (ब्राह्मण) मैं गोगाजी चौहान हूं, तुम्हें चेताने को ही मैंने नाग के रूप में तुम्हारी गाय का दूध पिया है।

नागराज गोगा ने आगे कहा—तू यहाँ मेरी सेवा-पूजा कर।

कहते हैं, ब्राह्मण ने नागराज की आज्ञा मानकर गोगामैड़ी के वर्तमान स्थान पर गोबर से लीप कर कच्ची मैड़ी बनाली और उसमें गोगाजी की पूजा करने लगा। तभी से वह मैड़ी देशान्तरों में उजागर हुई।

यहां भाद्र मास में दो बड़े मेले लगते हैं। पहला कृष्ण पक्ष में और दूसरा शुक्ल पक्ष में। गोगामैड़ी के यह मेले गोगाजी की श्रद्धा में तो लगते ही हैं, साथ ही यह पशु मेले के लिये भी प्रसिद्ध हैं।

मेले का झण्डारोपण तो भाद्रपद लगते ही कर दिया जाता है परन्तु यात्रियों का आगमन सप्तमी से प्रारम्भ होता है।

कृष्ण पक्ष के मेले में अधिकांश यात्री उत्तर प्रदेश, मालवा, दिल्ली, गुड़गांव तथा गंगा पार के 'पूरबिये' आते हैं। मेले के यात्री पीले वस्त्र पहने रहते हैं। इन पीले वस्त्रों में गरीब-अमीर तथा जाति-वर्ण का भेद अनायास ही तिरोहित हो जाता है। यात्रियों की अपनी टोलियां होती हैं। कतिपय टोलियों के साथ निशान, ढोल, डैंरू, तुर्रा, बांकिया एवं नागफणी आदि साज-बाज होते हैं। टोली का मार्गदर्शक एक जोगी होता है जिसको यात्री अपना गुरू मानते हैं। जोगी, टोली को गोगाजी का गीत गाकर आनन्द विभोर किये रहता है।

यात्री गोगाजी के प्रति परम श्रद्धालु होते हैं। उनकी अपने इष्ट के प्रति सच्ची श्रद्धा देखकर दर्शकों को आनन्द का अनुभव होता है। कहा है 'सच्ची श्रद्धा जीवन को निष्कपट आशय प्रदान करती है और शांति और सामंजस्य का राग बोध देती है।' यही भाव-दशा इन यात्रियों में देखी जाती है।

यात्री गाड़ी से उतरते ही घोष करते हैं—'बागड़ के पीर गोगा की जय' 'जाहरपीर गोगा की जय' तथा 'गुरु गोरख माता बाछल की जय', 'नरसिंह बली की जय'। यात्रियों का गाड़ी (गोगामैड़ी स्टेशन) से उतरते ही पहला पड़ाव गोरख टीले पर होता है। गोरख टीला रेल्वे स्टेशन से डेढ़ किलोमीटर उत्तर में है। गोरख टीला गुरू गोरखनाथ के 'धूणे' के रूप में प्रसिद्ध है। कहते हैं गुरू गोरखनाथ ने यहां तप किया था। गोरख टीले के पास ही गोरखाणा तालाब है। यात्री इसी गोरखाणा तालाब की पाल् पर जाल् और झाड़ियों के नीचे अपना डेरा डालते हैं।

यात्री अपने साथ आये जोगी को अपना गुरू मानते हैं और जोगी ही मेले की समस्त विधि सम्पन्न करवाता है। कहां धोक देनी है, कहां जोत करनी है तथा कहां चढ़ावा करना है आदि का निर्देश जोगी ही करता है। जोगी को इसके बदले में यात्रियों से अच्छी दान-दक्षिणा मिल जाती है।

कुछ इस प्रकार के यात्री भी देखे जाते हैं जो अपने गुरू जोगी को गाड़ी से उतरते ही कंधों पर बैठाकर गोरख टीले तक और गोरख टीले से मैड़ी तक मनौती के अनुसार ले जाते हैं।

जोगियों की यह प्रवृत्ति भी प्रधान है, यदि उन्हें यात्रियों से यथेष्ट दक्षिणा न मिले तो दुराग्रह से और कभी भावी अनिष्ट की आशंका बतलाकर इनसे मनमानी दक्षिणा निकलवा लेते हैं। परन्तु जोगी यात्री-टोली का प्राण होता है। वह अपने यजमान यात्रियों को विशेष शैली और मुद्रा बनाकर डोरी से थरकती डैरू पर गोगाजी के जीवंत कार्य कलापों का सरस गीत सुनाता रहता है।

गोरख टीले पर यात्रियों का यह पड़ाव अष्टमी की रात्रि तक रहता है। नवमी की प्रातः सारा मेला गोगामैड़ी की ओर चल पड़ता है।

गोगामैड़ी आकर यात्रियों को गोगाजी की समाधि के दर्शनों की उत्कंठा बढ़ जाती है। उनको गोगामैड़ी के व समाधि के सुविधापूर्वक दर्शन हो सके इसलिए यात्रियों को पंक्तिवद्ध होकर खड़ा होना पड़ता है। यात्रियों की यह पंक्ति काफी लम्बी हो जाती है। पंक्तिवद्ध व्यक्ति गोगामैड़ी के मुख्य दरवाजे से लेकर गोरख टीले के मध्य तक सुनियोजित ढंग से खड़े रहते हैं। यात्रियों की यह पंक्ति ऐसी लगती है मानो ऊंची-नीची लम्बी दीवार को पीले रंग से पोत दिया हो। क्योंकि यात्री मेले में पीले वस्त्रों से आवेष्ठित रहते हैं।

अग्रिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति को जब मैड़ी में समाधि के दर्शनार्थ प्रवेश मिल जाता है तथा वे समाधि के दर्शन-पूजन एवं परिक्रमा कर चुकते हैं तब दूसरे यात्रियों को प्रवेश की सुविधा मिल पाती है। इस व्यवस्था से यात्रियों का भीड़ के धक्के-मुक्कों से बचाव हो जाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक सारे यात्री समाधि के दर्शन नहीं कर लेते।

यात्री, मैड़ी में प्रवेश पाकर गोगाजी की समाधि के सामने चौक में भूमीष्ट होकर प्रणाम करते हैं। पास में खड़ा जोगी 'जै जाहरपीर की' 'नागड़ के पीर की' तथा 'सच्चे दरबार की जय' करता रहता है। जोगी अपने साथ क भूमीष्ट यात्री की लोहे या चांदी की कलई वाली सांकल से पीठ ठोकता रहता है। जोगी द्वारा पीठ ठोकने पर ही नत यात्री खड़ा होता है। तदुपरांत यात्री सभामंदिर में प्रवेश करता है तथा समाधि पर अपना माथा टेक अपनी मनौती व शक्ति के अनुसार नारियल, मोदक, नकदी एवं सोने चांदी के छत्र चढ़ाता है। इसके अतिरिक्त यात्रीगण गोगाजी की समाधि पर, श्वेतचंदन का चूरा, इत्र और घृत आदि सुगन्वित पदार्थ मलते हैं। जिसको बन्दगी करना कहते हैं। यात्री समाधि की तब तक बंदगी करते रहते हैं जब तक व्यवस्थापक की ओर से उन्हें आगे बढ़ने का सकेत नहीं मिल जाता। अत्यन्त श्रद्धालु यात्री पेट के बल सरक कर मैड़ी की परिक्रमा करते देखे गये हैं। यह गोगाजी के प्रति श्रद्धा का ज्वलन्त उदाहरण है।

मैड़ी के सभामंदिर से बाहर दक्षिण की ओर नारसिंघ कुंड (पांच-सात घड़े पानी समा सके जितना) है जिसका अधिष्ठाता पुजारी ब्राह्मण है। नारसिंघ कुंड के जल से

प्रत्येक यात्री को छींटा तथा छाप लेना अनिवार्य है। पुजारी कुंड में हाथ भिगोकर यात्री की पीठ छाप देता है जिसका आशय छींटे से पवित्र होना और बाह्मण से आशीर्वाद पाना है। यात्री यथाशक्ति कुंड तथा ब्राह्मण को भेंट चढ़ाते हैं।

गोगामैड़ी में जो यात्री 'निशाण' व 'अखाड़ा' लेकर आते हैं वे गोगाजी की समाधि के सामने तरतीव से खड़े होकर तथा ढोल-झांझ बजाकर अदव-ज़ाहिर करते हैं। इसी अदव से यात्री मैड़ी की परिक्रमा करते हैं तथा इसी ढंग से 'नारसिंघ कुंड' का अदव जाहिर करते हैं। यह अदव जब तक अखाड़े वाले गोगामैड़ी में निवास करते हैं, दिन में तीन बार चलता है। गोगामैड़ी में गोगाजी की समाधि की सुबह-शाम घृतज्योति से नगाड़ा, घड़ियाल तथा शंख ध्वनि के साथ आरती होती है।

यात्री भी अपनी-अपनी श्रद्धा व मनौती के अनुसार गोगाजी की घृत से ज्योति करते हैं। आरण्यक कंडों के अंगारों पर घृत ज्योति करना गोगाजी का प्रथम एवं मुख्य सेवा विधान है। यात्रियों की गोगाजी के प्रति भावाविष्टता तथा उनके आन्तरिक भाव का महत्व उसी के समझ में आता है जिसके अंतर में आध्यात्मिकता विद्यमान होती है।

इस प्रकार गोगामैड़ी के कृष्णपक्ष का प्रथम मेला नवमी की रात्रि तक गोगामैड़ी में मौजूद रहता है। नवमी की रात्रि में गोगाजी का जागरण किया जाता है, जिसमें जोगी-जनों का प्रमुख भाग रहता है। तदुपरांत मेला विसर्जित हो जाता है। इसी प्रकार शुक्ल पक्ष का मेला गोगाजी की श्रद्धा में लगता है जिसमें राजस्थान और पंजाब के यात्री अधिक आते हैं।
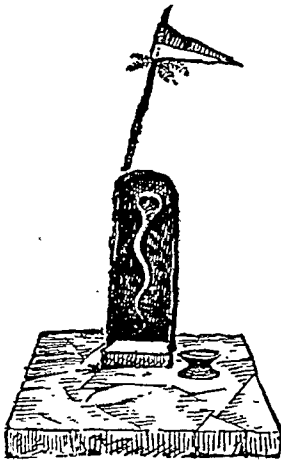
परबतसर

• श्री नानूराम संस्कर्ता

सतरहवीं शताब्दी की बात है। नागौर इलाके के खड़नाल (करनाल) गांव में ताहड़ नामक एक विशेष व्यक्ति के घर कुँवर तेजाजी का जन्म हुआ था। उस समय श्री ताहड़, खड़नाल के निष्णात नृपति थे। तेजाजी से पहले इनके छः कुंवर मौजूद थे और सातवें कुंवर श्री तेजाजी अवतरित हुए थे। तेजाजी के पीछे एक कुँवरी का जन्म भी हुआ, जिसका नाम राजां अर्थात् राजलदे रखा गया। कुँवरी राजलदे और कुंवर तेजाजी में औरों से अधिक बाल्य-स्नेह बन गया था। वे दोनों रूप और गुणों में अभी से अपना-अपना आदर्श प्रस्तुत करने लगे। तत्कालीन रूढ़ियों के अनुसार कुँवर तेजाजी का विवाह, परगना किशनगढ़ के पनेर ग्रामवासी चौधरी बदनाजी की बेटी बोदलदे के साथ बचपन में ही कर दिया गया था, परन्तु तेजाजी को यह बचपन की बात बिलकुल ऐसे ही याद नहीं रही जैसे गुड्डे-गुड्डियों के खेल जवानी में विस्मृत हो जाते हैं।

राजस्थान में वर्षा-ऋतु को मांगलिक माना गया है। गर्मी से झुलसे हुए इस प्रदेश पर जब वर्षा की बूंदें पड़ती हैं तो यहां का जन-जीवन लहलहा उठता है। कृषक लोग बैलों को संवारते हैं। उनके गले में कौड़ियां और रंग-रंगीली राखी बांधते हैं फिर शीघ्र जाकर खेत जोत देते हैं। यहाँ की कहावत है कि 'ऊमरै नै ऊमरो नीं नावड़ै !' तेजाजी भी उक्त कार्य के लिए किसी से पीछे नहीं रहे क्योंकि उनकी माता का कहना था कि 'पुल रा बायेड़ा रे तेजा मोती नीपजै !' तेजा बोला अपनी मां की आज्ञा से खेत जोतने गया। उसने मालिक का ध्यान लगाकर हल पर हाथ धरा और शांत सुमधुर वेला

में खेत बोना चालू किया। हल चलाते-चलाते ऊपर से बारह बज गये मगर उसने विश्राम तक नहीं लिया। जब तक सब पड़ौसी-कृषकों के घर से भाता (छाक) व बैलों का चारा आ गया था। वे खा-पीकर दुबारा खेत जोतने लगे थे। किन्तु तेजाजी के घर से अभी तक खाना व चारा लेकर कोई नहीं आया। अतः वे गर्मी, भूख एवं अव्यवस्थित कार्य की चिन्ता से आकुल हो उठे। अत्यधिक इन्तजार के बाद कुंवर तेजाजी के घर से उनकी भाभी छाक और बैलों का चारा लेकर उपस्थित हुई। कुंवर तेजा ने इस विलम्ब के लिए मतवारण भाभी से शिकायत की। कहा—'भाभीजी ! यह कोई खिलाने का समय है ? सारे हाली लोग स्वयं खा-पीकर और बैलों को चरा कर हलके विश्राम के बाद पुनः हल जोत रहे हैं।' भाभी तो पहले से ही गर्म थी और घर के सारे कार्य करके थकी हुई आई थी। लोह से लाल लोह भिड़ गया और व्यंग्यात्मक चिनगारियां उछलने लगीं। बोली–'थारी रे परण्योड़ी देवर भातो ढोवै पीहर में !'' देवर ! ऐसी जल्दी खाना खाने की इच्छा है तो तुम अपनी पत्नी से ही यह कार्य क्यों नहीं करवा लेते ? जो अपने पिता के घर यह कार्य कर रही है।' भावज के तानों द्वारा अपनी ब्याही औरत का पीहर रहना सुनकर तेजाजी तिलमिला गये और तुरन्त हल छोड़ कर घर की ओर दौड़ आये। तेजा को अचानक घर आया देखकर माता ने पूछा—'बेटा ! सब लोगों के खेतों में हल चल रहे हैं, अपने खेत की भीगी धरती क्यों सूख रही है ?'

तेजा ने भाभी के व्यंग्य को बताते हुए अपनी माता से ससुराल का गाँव और मार्ग पूछा। माता ने जोशी से बेटे को ससुराल जाने का समय निकलवाया तो वह शुभ नहीं आया। उसने बतलाया कि मुझे तो कुंवर तेजा की उज्ज्वल देवली दिखाई दे रही है। पर सबके मना करने पर भी कुंवर तेजा अपनी लीलण नाम की घोड़ी पर सवार होकर गांव पनेर की ओर प्रस्थान कर गये। रात-दिन करके दूसरे रोज संध्या तक पनेर पहुंचे और चौधरी बदनाजी का घर पूछ कर पोल (दरवाजे) में प्रवेश किया। पोल में तेजाजी की सास गायें दुह रही थीं। तेजाजी की घोड़ी की टापों की आवाज से उसकी गायें बिदक गईं और दूध देना बन्द करके भाग खड़ी हुईं। स्थितिवश उनकी सास अपरिचित बटाऊ पर आग बबूला हो उठी और कहने लगी—'अरे नागड़े खादा, तू ऐसा कौन बटाऊ आकर मरा है, जो मेरी सारी गायों को घोड़ी से बिदका दीं ? आज का सारा दूध गया और गायें भी डर कर भाग गई।' सास के ये शर समान शब्द तेजाजी के कानों को भेदकर मर्म-स्थल तक पहुंच गये। उन्होंने घोड़ी को मोड़ा तथा लगाम को संभाल कर रास्ते में आये हुए बाग की ओर वापिस चल पड़े। बाद में अपने जंवाई का आना मालूम पड़ते ही उनकी ससुराल में हलचल की स्थिति बन गई। उस परिवार के मुख्य जन तेजाजी के पीछे गये और उन्हें घर लाने के लिए विनती करने लगे। कुंवर तेजाजी साफ इंकार कर गये। बोले—'जिस घर में बटाऊओं (मेहमानों) का ऐसा सम्मान किया जाता है उस घर में मैं तो कदापि नहीं जाऊंगा।' ससुराल वाले घर लाने के लिए बार-बार अनुनय कर रहे थे, तेजाजी साफ 'ना' करते जा रहे थे। इसी समय लाछां नाम की गूजरी रोती हुई अपनी गायों की फरियाद लेकर वहां पहुँची और बोली—'अरे भाई ! मेरी सारी गायें मेर और मीणे अपहरण करके लिए जारहे हैं। कोई वीर हो तो मेरी मदद करो। बड़े

उपकार का कार्य है। दुःखी बछड़े रमां रहे हैं।' सब स्तब्ध हो गये। इस पर लाछां ने कुंवर तेजा को सम्बोधित करके कहा—'अरे भाई बटाऊ ! तुम भी इन लोगों की तरह मौन क्यों हो ? तुम्हारे चेहरे पर तो बहादुरी की ज्योति ज्योतित हो रही है। तुम अकेले ही मेरी गायें लौटा सकते हो, ऐसा तुम्हारे ओज से स्पष्ट प्रकट होता है।'

अबला की पुकार और गायों के अत्याचार पर तेजाजी में अधिक वीरत्व का संचरण हो गया। वे लाछां से कहने लगे—'गूजरी ! अब तुम रोना कलपना बन्द करो, मैं तुम्हारी गायों को अवश्य लौटा लाऊंगा।' गूजरी इस पर धन्यवाद एवं आशीर्वाद देने लगी। परन्तु तेजाजी सुनी-अनसुनी करके लीलण पर उचक कर चढ़ गये। उस समय इस धोलिया सरदार के साथ आठ जाट युवक, एक गूजर वीर और एक कुलकवि भी चल दिये। रास्ते में एक सुरसरी नाम का गांव आया। वहां एक बालू नाम का विषधर सर्प रहता था। कुंवर तेजाजी को देखते ही सर्प ने उन पर आक्रमण कर दिया क्योंकि एक कथनी के अनुसार इनके वंशजों और सर्प के वंशजों में प्राचीन शत्रुता चलती आ रही थी। सर्प का हमला इतना भयावह था कि वे सारे साथी घबरा गये। कुंवर तेजाजी ने सोचा यदि सर्प के साथ लड़ना शुरू कर देंगे तो गूजरी की गायों को लौटाने वाली प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो सकेगी। पीछे बछड़े भी तो क्षुधारत हो रहे हैं अतः सर्प के साथ विनय पूर्वक ही निपटना चाहिए। वे बोले—'सर्पराज ! हम वीर बहादुरों को मौत का भय नहीं लगता। परन्तु प्रतिज्ञा पूरी न होने का डर लगता है। हम आपके साथ युद्ध करके विलम्ब कर देंगे तो गूजरी की गायें जो मेर और मीणे छीनकर ले गये हैं, नहीं लौट सकेंगी। उनके बछड़े पीछे भूखे मर रहे हैं और हम लौटाने की प्रतिज्ञा कर डाकुओं का पीछा कर रहे हैं। नागराज ! गौरक्षा प्राणी मात्र का परम धर्म है। इसलिए आप उन गायों को लौटा लाने तक का समय हमें प्रदान कीजिये। मैं आपसे वचनबद्ध होकर जाता हूं कि गूजरी की गायों को मेर-मीणों से मुक्त करवा कर तुरन्त आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊंगा।' सर्पराज ने इस धर्म-नीति की बात पर अपना आक्रमण बन्द कर दिया। तेजाजी एक ही छाह (दौड़) में तस्करों से जा भिड़े।

यद्यपि सामने वाले शत्रु संख्या में काफी अधिक थे तथापि वीर कुंवर तेजाजी और उनके साथियों ने तनिक भी परवाह नहीं की। वे ललकारते हुए उन पर टूट पड़े। शत्रु भी जोश में भर कर युद्ध स्थल में डटे, परन्तु जमकर होने वाले युद्ध में मेर-मीणों के पैर उखड़ गये। तेजाजी तथा उनके साथियों के सम्मिलित हमले से आक्रांता लोग हार कर भाग गये। तेजाजी और उनके साथी सारे गोधन को पनेर लौटा लाये।

तेजाजी ने गायों सहित जब पनेर में प्रवेश किया वहां लाछां गूजरी प्रतीक्षा में खड़ी मिली। तेजाजी ने उसे गोधन सौंपा, वह बड़ी आनंदित हुई। तेजाजी का परिचय पाकर बहिन बोदल के सौभाग्य की सराहना करती हुई कोटिशः आशीर्वचन कहने लगी। तत्पश्चात लांछा ने डाकुओं से लौटाये हुए गोधन की संभाल शुरू की। गायों के समूह में एक बछड़ा नजर नहीं आया। तब गूजरी उदास हो गई। तेजाजी ने उसकी मनोदशा जानकर कारण पूछा। गूजरी भर्राई हुई आवाज में बोली—'तेजाजी ! मेरा सारा गोधन

आगया है, पर इसमें केवल मेरा प्यारा वछड़ा नहीं है। मैं उसे सूर्य का सांड कर देना चाहती थी। परन्तु वह मेर-मीणों को प्यारा बन रहा।' कुंवर तेजाजी लाछां के कारुणिक वचन सुनकर शीघ्र वछड़ा लाने को लौट चले। मेर-मीणे कुछ ही दूर गये होंगे कि तेजाजी ने अपने साथियों सहित जाकर उनको पुनः घेर लिया। दोनों ओर मोर्चे जम गये। भयंकर युद्ध हुआ। तेजाजी के सारे साथी खेत रह गये। अकेले वीर तेजाजी ने ऐसी तलवार चलाई कि मेर-मीणों के छक्के छूट गये। तेजाजी का भी सारा शरीर विंध गया। मगर लाछां का वछड़ा उन्हें मिल गया। वे उसे लेकर पनेर आ गये। वछड़ा गूजरी को दिया और वदले में वहुत आशीश एवं विरुदावली के वचन सुने। अब तेजाजी की ससुराल से फिर श्वसुर, साले, सालियां आदि उन्हें घर ले जाने के लिए आये। स्वयं सास अपने कटु-व्यवहार के लिए क्षमा याचना करने आई। परन्तु तेजाजी सबके सामने अपनी लाचारी वताने लगे। उन्होंने कहा—'सम्वन्धी महानुभावों! प्रतिज्ञा करके पलटने वाले व्यक्ति का जीवन ही कलंकित हो जाता है। वह दाग मिटाने से भी नहीं मिटाया जाता। मैंने गौओं को छुड़ाने के लिए जाते समय सुरसरे ग्राम के नागराज से प्रतिज्ञा की है कि गूजरी की गायें डाकुओं से मुक्त करवा कर शीघ्र तुम्हारे पास आजाऊंगा। अब यदि मैं प्राणों के मोह में आकर उस प्रतिज्ञा से मुंह मोड़ लूं तो सदा के लिए मेरा नाम अशुभ माना जायेगा। यह शरीर तो नश्वर है, तव मैं क्यों इसके लिए अपना नाम कलंकित करूं? हाँ! आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करना चाहता हूं कि मुझे सत्पथ से विचलित मत कीजिये। मेरी धृष्टता को क्षमा कर दीजिये।' इतना कहकर कुंवर तेजाजी ने अपनी लीलण घोड़ी सुरसरे के पथ की ओर मोड़ दी। पनेर के लोग अवाक् रह गये और तेजाजी की पत्नी असुध होकर गिर पड़ी।

तेजाजी अपने लहू से लथ-पथ शरीर को लेकर शीघ्र सुरसरे जा धमके। वहां जाकर वालूनाग को आक्रमण करने के लिए पुकारा। वोले—'नागदेव! मेरी यह देह आपकी सेवा में समर्पित है।'

तेजाजी की सत्यता पर वृद्ध नाग गद्‌गद् हो गये। उन्होंने अपने जीवन में ऐसा दृढ़ प्रतिज्ञ धर्मपुरुष कभी नहीं देखा था। वह वोले—'कुंवर तेजाजी! तुम जैसे धर्मवीर को देखकर मेरा मन श्रद्धा से भर गया है। मैंने प्राचीन वैर को आज से त्याग दिया है। तुम अपने स्थान को जाओ और चिरकाल तक ऐसी ही धर्म-नीति से अपना राज काज संभालो।' तेजाजी विषधर की सारी कायरता को समझ गये। वे वोले—'नाग महाराज! सिंह एवं सर्पों को ऐसी भीरुता की बातें शोभा नहीं देतीं। वैरी वने हो तो वैर का पूरा वदला लो। आपके कायर भाव से मेरी वीरता भी विमल नहीं रहने पायेगी। यद्यपि आप स्वयं वैर भावना का विसर्जन कर रहे हैं किन्तु संसार वाले इसका दूसरा अर्थ करेंगे वे कहेंगे कि 'तेजाजी वृद्ध सांप को तिरी दिखाकर जान बचा आये।' सो मैं अत्र विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूं कि अपने वैर का मुझे निश्चित विन्दु मानकर शिघ्र आक्रमण करिये।' तेजाजी के इस अटल आग्रह पर सर्पराज को एक उपाय और सूझ गया। वे बोले—'तेजा! तुम्हारा सारा शरीर पहले ही घावों से छलनी हो रहा है। ऐसी घाव-

जर्जरित काया पर आक्रमण करना मेरा वीर-धर्म नहीं है। मैं ऐसे लहू-लुहान तन पर अपना शौर्य सम्पन्न फन नहीं उठा सकता।'

इस पर तेजाजी बोले—'सर्पेन्द्र! मेरे मुंह में जिह्वा अभी अखंडित है। वही आपकी सेवा कर सकेगी। उसी से आप अपनी इच्छा पूरी कीजिये। मैं उसे बाहर निकाल कर आपके आगे करता हूं। उस पर दंशन कर मुझे संतोष दीजिये। आपका प्रतिशोध पूरा होगा और मेरा प्रण निभ जायेगा!' तेजाजी के वीर हठ पर वासुकि को विवश होना पड़ा। उनने तत्काल जीभ पर ऐसा जबरदस्त दाढ़ मारा कि क्षण भर बाद ही कुंवर तेजाजी इस क्षण भंगुर देह का परित्याग कर अपर लोक पधार गये।

तेजाजी के शरीर त्याग की वेला में एक देवासी वहां उपस्थित था। उसके द्वारा शोक संवाद तथा उनकी पगड़ी पनेर पहुँचाई गई।

पनेर भर में दुख की दरिया बह गई। सारे सम्बन्धीगण उच्च स्वर से रुदन करने लग गये। तेजाजी की धर्मपत्नी बोदलदे को अपने पतिदेव की प्रिय पगड़ी देखकर सत चढ़ गया। वह उस पगड़ी को हृदय से लगाकर सुरसुरे ग्राम की ओर चलदी। पारिवारिक-जन ढोल, नगारे और झांझ बजाते हुए उसके पीछे हो लिये। बालू नाग की बांबी के निकट लीलण (लीलधरी) घोड़ी अपने स्वामी, लोकवीर तेजाजी की दैविक लाश के पास खड़ी कलप रही थी।

इस अलौकिक लीला का सर्व अवलोकन करके संतप्त लीलण सत्वर खड़नाल आ पहुँची। घोड़ी को बिना सवार घर आई देख कर कुंवर के माता-पिता एवं स्वजनों में भारी आशंका व्याप्त हो गई। वे घोड़ी के उलटे पद चिन्हों पर जाने वाले ही थे कि पनेर के एक शोकाभिभूत व्यक्ति ने आकर तेजाजी के स्वर्गारोहण का सारा दुःखद वृतान्त सुना दिया। सारा परिवार रुदनलीन हो गया। परन्तु तेजाजी की बहिन राजलदे में सत का संचरण हो आया। वह मां से सत का नारियल प्राप्त कर, हरि ओम शांति! की ध्वनि करती हुई श्मशान घाट पर आ गई पारिवारिकजनों ने चन्दन की चिता को घृत-गिरी से तर करके तैयार करदी। हरि ओम् शांति! के वातावरण में राजलदे ने उसमें प्रवेश किया। जुझाऊ ढोल नगाड़ों की उच्च ध्वनि के साथ चिता प्रज्वलित की गई। उसकी लपटों के साथ सती राजल वैकुण्ठवासिनी बन गई। आगे बोदलदे भी पहुँच चुकी थी। दोनों सतियां परस्पर गले मिलीं। इन्द्राणी उनके स्वागत में मालाएं पहनाने के लिए उपस्थित हुईं। अमरों ने पुष्प वृष्टि की। लोक वीर तेजाजी सत्यव्रत पर जूझे, इसलिए उनके यश-शब्द सदैव घर घर गूंजने लगे।

तेजाजी की पूजा समस्त राजस्थान में सर्पों के रूप में की जाती है। लोक-विश्वास है कि इनके नाम की राखी (सूत्र) बांध देने से सर्प-विषाक्रान्त व्यक्ति तुरन्त विषप्रभाव से छूट जाता है। इनकी स्मृति में प्रतिवर्ष भादवा सुदी १० को स्थान स्थान पर भक्त लोग पवाड़ा गाते हैं। अगता रखा जाता है। कृषक वर्ग हल चलाते हुए इन्हीं के स्मरण गीत गाते रहते हैं।

कुंवर तेजाजी का पर्वोत्सव हर साल पर्वतसर में मनाया जाता है। यहां भाद्र पद शुक्ला १० से पूर्णिमा तक भारी मेला भरता है। इनका सुयशगान करने हजारों नर-नारी मेले में भाग लेते हैं। इस सामूहिक भाग में एक बड़ी विशेषता होती है कि पुरुष पात्र सम्बन्धी उक्तियां पुरुष दल तथा स्त्री पात्र सम्बन्धी उक्तियां स्त्री दल द्वारा गाई जाती है। यह दृश्य बड़ा मनोरंजक होता है। यह मेला अपनी प्रकृति के अनुसार ही नृत्य, गीत, वेश-भूषा, साज-सज्जा, के लिए क्रीड़ा व क्रय-विक्रय को साथ लिए चलता है। इसे जातीय विकास तथा राष्ट्रीय भावना वृधि का स्रोत मानते हैं।

मेला कुंवर तेजाजी के नाम पर लगता है। जिसका पुण्य स्थान नागौर जिलान्तर्गत राजस्थान का एक प्रख्यात तहसील कस्बा परबतसर है। यह जोधपुर से जयपुर रेल लाइन पर मकराणा स्टेशन के पास है। मकराणा से एक छोटी गाड़ी परबतसर आती-जाती रहती है। यह कस्बा पुष्कर, मेड़ता, कुचामन एवं नागौर आदि नगरों से बसों द्वारा जुड़ा हुआ है।

□ □

शीलमाता की डूंगरी

• श्री चिरंजीलाल माथुर 'पंकज'
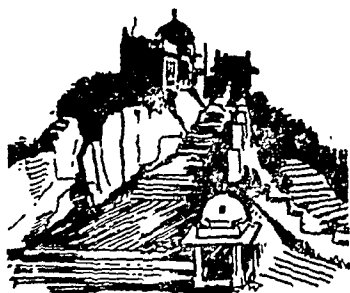
"चैत्र का महिना था। एक दिन शीलमाता ने सोचा इस बात को देखना चाहिये कि शहर में लोग मेरा कितना मान रखते हैं। शहर की एक गली से शीलमाता जा रही थीं कि किसी ने चाँवलों का गरम-गरम पानी गली में डाला। यह जलता हुआ पानी शील माता के ऊपर गिरा और शीलमाता के हाथ, पाँव और शरीर पर फफोले हो गये। सारे वदन में जलन होने लगी। शीलमाता पूरे शहर में घूम गई लेकिन उसे कहीं ठंडक नहीं मिल सकी।

पूरे शहर में से घूमती हुई शीलमाता जब शहर के बाहर पहुंची तो वहाँ एक कुम्हार की झोंपड़ी देखी। झोंपड़ी पर पहुंच कर उसने कहा "मैं गर्मी से जल रही हूँ, मुझे कोई ठंडी चीज दो। कुम्हारी ने उसको आदर सहित विठाया और ठंडी छाछ-रावडी में मिलाकर शीलमाता के सामने रखी। शीलमाता ठंडी छाछ और रावड़ी खाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसको शांति मिली।

शीलमाता ने कुम्हारी से कहा वेटी मेरे सिर में जूँए तो देख दे। कुम्हारी ने जूँए देखना शुरु किया। ज्योंही कुम्हारी की नजर पीछेकी तरफ गई, कुम्हारी ने उसके दोनों तरफ आंखें देखी तो डर गई। शीलमाता ने कुम्हारी को वतलाया "तू डर मत, मैं शील और वोदरी माता हूँ। शहर में घूमते हुए मैं जल गई थी तुमने मुझे ठंडी छाछ-रावड़ी मिलाकर शांती दी है। मैं इससे वहुत प्रसन्न हुई हूँ। आज तुम्हे एक वात वता देती हूं। कल सवेरे शहर में आग लग जायगी। तू एक कोरे करवे (सिकोरे) में स्वच्छ पानी लेकर, मेरा नाम लेकर अपनी झोंपड़ी के चारों ओर पानी की एक कार निकाल देना। इससे तेरी झोंपड़ी वच जायगी। इतना कह कर शीलमाता चली गई।

दूसरे दिन सवेरा होते ही पूरे शहर में आग लग गई। राजा ने अपने आदमियों को भेजा कि देखो कोई मकान बचा है क्या? शहर का चक्कर लगाकर लौटे एक सिपाही ने वतलाया "हुजूर! गांव के बाहर केवल एक कुम्हारी की झोंपड़ी बची है"। राजा ने कुम्हारी को बुलाकर इसका रहस्य पूछा। कुम्हारी ने राजा को पूरी घटना वतलादी।

पूरी घटना सुनने के बाद राजा ने उसी दिन ढिढ़ोरा पिटवाया कि चैत्र के महीने में छठ के दिन भोजन बना कर सप्तमी को शील और बोदरी माता की पूजा करके ठंडा भोजन खावें। माता की पूजा छाछ, राबड़ी, पूआ, पुड़ी, नारियल आदि से करें। यह पूजा कुम्हारी ही करेगी और पूजा की सामग्री एवं चढ़ावा कुम्हारी ही लेगी।"

आज भी चैत्र माह के अंधेरे पखवाड़े में 'शील सातम' को राजस्थान के हर क्षेत्र में शीतलामाता का मेला लगता है। लोग पहले दिन का बना हुआ भोजन सप्तमी को शीतलामाता के मन्दिर में चढ़ाते हैं, पूजा करते हैं और फिर भोजन करते हैं।

गीत गाती महिलाएं शीतला माता के मंदिर में जाती हैं। पूआ, पापड़ी, छाछ, रावड़ी, गुलगुला, नारियल आदि चढ़ाती हैं। उस दिन मेला लगता हैं। यह दिन यदि शनिवार रविवार या मंगलवार को पड़ता है तो छटे दिन ही वासेड़ा (ठंडा) खाया जाता है।

राजस्थान में अविवाहित लड़कियाँ खेजड़ी के नीचे रखे लाल पत्थर पर नियमित पानी डालती हैं। वह वर्ष भर पानी इसलिये डालती है कि माता शांत रहे। विवाह के समय भी शीतला की पूजा होती है। विवाह हो जाने के बाद दूल्हा-दुल्हिन जात देने के लिए शीतला माता के मंदिर जाकर पूजा करते हैं। लाल कपड़े में गुड़, गुलगुले व पैसे रखकर चढ़ाते हैं। शीलतामाता के मंदिर की पूजा आज भी कुम्हार जाति के लोग ही करते हैं।

राजस्थान एवं आसपास के अनेक राज्यों में शीतलामाता मातृरक्षिका देवी के रूप में पूजी जाती है। शीतलामाता देश के भिन्न-भिन्न भागों में नाम भेद के साथ आराधित हैं। जहां वह उत्तर प्रदेश में माता या महामाई के नाम से जानी जाती है वहां पश्चिमी भारत में माई अनामा और राजस्थान में सेढ, शीतला तथा सेढ़ल माता के रूप में विख्यात हैं।

शीतलामाता को एक पौराणिक देव माना गया है। हर हिन्दू चाहे वह किसी भी जाति का हो उसकी यह मान्यता है कि मातामाई एक दिन उसके घर अवश्य आती हैं। वह यही मनौती करता है कि मातामाई बिना कोई नुकसान पहुंचाये शांति से लौट जायं। शीतलामाता को मुसलमान जाति के लोग भी पूजते है।

भारत में चेचक एक भयंकर रोग माना जाता है। इसे माता, शीतलामाता, सेढ़ल, महामाया, माई ऊलामा आदि नामों से भी अलग-अलग प्रान्तों में पुकारा जाता हैं। ऐसी मान्यता है कि चेचक का प्रकोप माता की रूष्ठता के कारण ही होता है। सील को बच्चों की संरक्षिका माना जाता हैं और इसी रूप में इसे पूजा जाता है।

शीतला से अर्थ ठंड से है। अधिक तेज बुखार के बाद शीतलामाता के आने पर ठंडक हो जाती हैं ऐसी मान्यता है। इसीलिये इसे माता कहते हैं। चेचक के मरीज को चिथड़ों में लपेटे अंधेरे कमरे में रखते है। माता शांति चाहती है अतः किसी को जोर से बोलने तक नहीं दिया जाता। घर में घट्टी नहीं चलाई जाती, घी अथवा तेल का तड़का नहीं लगाया जाता। घर वालों को नहाने और नये कपड़े पहनने नहीं दिया जाता। इसको छूत की

बीमारी मानते हैं अतः कई तो इस बीमारी के मरीज का आराम पूछने भी नहीं जाते। कोई दवाई नहीं दी जाती। केवल नीम की पत्तियों की वंदनवार घर के दरवाजे पर लगाई जाती है। 'गधा' माता की सवारी माना जाता है अतः घर में माता का प्रकोप होने पर गधे को रोजकुछ न कुछ खाने को दिया जाता है। टोने-टोटके आदि किये जाते हैं। एक घडे में कुछ खाने की सामग्री रख कर मरीज के चारों ओर सात बार घुमाकर पास के चौराहे पर रख दिया जाता है। ऐसा भी मानते हैं कि मरीज का कोई रिश्तेदार रात को कुए पर जाकर पानी की घूंट मुँह में भरकर अचानक मरीज पर फेंक देता है तो उसके बाद मरीज जल्दी ठीक हो जाता है ऐसी भी मान्यता है। चेचक के मरीज की मृत्यु के बाद उसे जलाया नहीं जाता बल्कि गाड़ा जाता है। चेचक में मरीज बदसूरत हो जाता है। कभी-कभी तो आंखें तक चली जाती हैं फिर भी माता की ही मरजी माना जाता है और कोई इलाज नहीं करवाया जाता है।

यह मेला चैत्र माह की अंधेरे पक्ष में सप्तमी को प्रान्त के हर भाग में लगता है। मुख्य और प्रसिद्ध मेला 'शील की डूंगरी' पर लगता है। जयपुर जिले में जयपुर-कोटा मुख्य सड़क पर जयपुर से कोई ३५ किलोमीटर दूर और चाकसू से करीब ५ किलोमीटर दूर कर तालाब के किनारे स्थित शील की डूंगरी पर माता के मन्दिर में लगता है। चाकसू रेल्वे स्टेशन भी है। मेले के दिन जयपुर टौंक आदि स्थानों से दिन भर बसें भी चलती रहती हैं। वैसे भी इस सड़क पर बसें दिन भर नियमित आती-जाती रहती हैं।

यह मन्दिर जयपुर के भूतपूर्व महाराजा श्री माधोसिंहजी ने बनवाया था। मेले में राज्य के हर हिस्से से लोग माता के दर्शन करने आते हैं। बैलगाड़ियों और पैदल यात्रियों की रंग-बिरंगी वेष-भूषा पहने लोग रात पर जागरण करते हैं तथा नाच नाच कर गाते हैं। शीतला सप्तमी के दिन करीब एक लाख व्यक्ति एकत्रित होकर माता की पूजा करते हैं। मीणा और गूजर जाति के लोग यहां आकर अपनी पंचायत लगाते हैं, और आपसी झगड़े तय करते हैं।

परम्परा के अनुसार शील की डूंगरी का पुजारी भी कुम्हार ही होता है। कुम्हार जाति के लोग हर पन्द्रह दिन बाद बारी-बारी से माता की दिन में दो बार आरती उतारते हैं और अपने हिस्से का पुजापा लेते हैं। मेले के दिन जो भी रुपया-पैसा अथवा पुजापा एकत्रित होता है उसे सभी बराबर-बराबर बांट लेते हैं।

पंचायत समितियों की स्थापना के बाद अब चाकसू पंचायत समिति इस मेले में पानी, बिजली, सफाई आदि की व्यवस्था करती है। वहाँ इस दिन जानवरों का मेला भी आयोजित होता है, खेल-कूद होते हैं तथा कृषि, पशु-पालन, सहकारिता एवं जन स्वास्थ्य विभागों की ओर से प्रदर्शनी भी लगायी जाती है। रात्रि को फिल्म प्रदर्शन आदि भी आयोजित किये जाते हैं।

दिन भर खेल-कूद व झूले झूलने के बाद संध्या को लोग नाचते-गाते माता की मनौती मनाते हुए अपने-अपने गांवों को लौटते हैं।

□ □
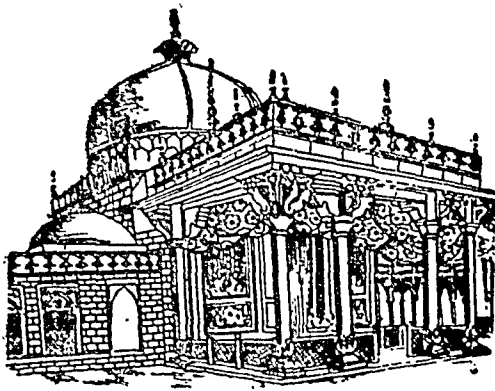
अजमेर

• श्री हमीदुल्ला खाँ

हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक ख्वाजा मुइनुद्दीद चिश्ती का जन्म सीस्तान के कस्वे अस्फहान में १४ रजव ५३६ हिजरी तदानुसार १३४१ ई० में हुआ था। उनके पिता का नाम ख्वाजा गयासुद्दीन और माता का नाम माहनूर था। ख्वाजा मुइनुद्दीन वचपन से ही संजीदा स्वाभव के थे। जव वे केवल १५ वर्ष के थे कि उनके सिर से पिता का साया उठ गया। कमसिनी के वावजूद गरीवनवाज़ वहुत गम्भीर और रोशन ख्याल थे। उनके पिता का अंगूरों का एक वाग था। गरीव नवाज अपने वक्त का ज्यादा हिस्सा उसी वाग़ में गुज़ारते और यादे हक़ में मशगूल रहते। ईरान के कस्वे संजर में एक मशहूर बुजुर्ग रहते थे इब्राहीम कंदोजी। एक रोज वह यकायक ख्वाजा गरीव नवाज़ के वाग में आये। उस वक्त हज़रत ख्वाजा अंगूर की वेलों में पानी दे रहे थे। हज़रत इब्राहीम कंदोजी को वहां आया देखकर आपने उन्हें अंगूर पेश किये। उन्होंने दीक्षा दी और चले गये।

इस घटना के एक सप्ताह के भीतर गरीव नवाज़ ने अपना सारा माल-असवाव वेच दिया और नकद रुपया गरीवों और मोहताजों में तकसीम कर दिया। फिर वे समरकंद और वुखारा की तरफ रवाना हो गये। यहां कई साल रहे और विद्यार्जन किया। उसके वाद वे नेशापुर पहुँचे और वहां से मदीने हज के लिए चल दिये। हज के वाद मदीने से वगदाद के लिए रवानगी इख्तियार की।

वगदाद में पांच महीने और सात दिन ठहरने के वाद आपने हमदान, तवरेज तथा गजनी होते हुए भारत में कदम रखा और लाहौर में कुछ दिन कयाम करने के वाद आप ने कुछ महीने देहली में गुजारे। उसके वाद आप अजमेर तशरीफ लाये और आनासागर के क़रीव ठहरकर सूफी मत का प्रचार करने लगे, जो हर मज़हव के लोगों के

लिए आपसी सद्भाव, एकता और प्रेम का सन्देश था। भारत में सूफी संप्रदाय की चिश्तिया शाखा के प्रथम प्रचारक ख्वाजा गरीब नवाज़ ९७ वर्ष की उम्र में रजब की ६ तारीख ६२७ हिजरी को शरीर त्याग आकाए खल्क से जा मिले।

ख्वाजा गरीब नवाज़ का आस्ताना, अजमेर शहर के दक्षिण में स्थित है। दरगाह के अन्तर में दरगाह वाज़ार, दक्षिण में झालरा, पश्चिम में त्रिपोलिया दरवाजा व इन्दरकोट, पूर्व में गली लंगर-खाना व मुहल्ला खादिमान है।

दरगाह शरीफ की इमारत तीन अहातों में वंटी हैं। पहले अहाते में नक्कार खाना उस्मानी, नक्कारखाना शाही, अकवरी मस्जिद, दूसरे अहाते में वुलंद दरवाज़ा, छोटी देग, बड़ी देग, महफिल खाना, हौजे शाही और यादगार मलिका मैरी। तीसरे अहाते में मस्जिद संदलखाना, रौज़ा-मुन्नवर्रा, वेग़मी दालान, वहिश्ती दरवाजा, चिल्ला वावा फरीद, औलिया मस्जिद, जामैआ मस्जिद शाहजहानी, करनाटकी दालान, लंगरखाना और झालरा है।

नक्कारखाना उस्मानी का निर्माण सन् १९१२ में हैदरावाद के तत्कालीन नवाव मीर उस्मान अली खां ने करवाया था। इसके निर्माण में ५० हज़ार की लागत आई थी। दरगाह शरीफ के पहले जीने पर यह नक्कारखाना स्थित है, जिस पर एक निहायत नफीस वारादरी है। इसी वारादरी में नौवतखाना है।

नक्कारखाना शाहजहानी १०४५ हिजरी में तामीर हुआ था। इसका दरवाज़ा लाल पत्थर का और अन्दर-वाहर का फर्श संगेमरमर का है। नक्कारखाने के दरवाजे पर एक वारादरी है, जिसमें नौवतखाना है। यह नौवतखाना मुगल वादशाह शाहजहां की वेटी जहांआरा वेगम ने वनवाया था। इस नक्कारखाने में निश्चित समय पर नौवत वजाई जाती है। इस नक्कारखाने में अकवर के समय की नक्कारों की एक वहुत वड़ी जोड़ी है।

अकवरी मस्जिद को वादशाह अकवर ने ९७८ हिजरी में लाल पत्थर से वनवाई थी। कहते हैं अकवर के जब कोई औलाद नहीं हुई, तो औलाद के लिए दुआ करने वह आगरा से अजमेर पैदल ख्वाजा के दरवार में हाज़िर हुआ था। अकवरी मस्जिद का क्षेत्रफल १५० वर्गफीट हैं। वीच की मेहराव ५६ फीट ऊंची है और दोनों कोनों पर संगमर-मर के मीनार हैं।

वुलंद दरवाज़ा का निर्माण सुलतान मेहमूद खिलजी ने कराया था। यह लाल पत्थर का वना है और ८५ फीट ऊंचा है। इसके अन्दर का फर्श संगमरमर और संग-मूसा का है।

महफिल खाना नामक इमारत का निर्माण १२७७ हिजरी में हैदरावाद के नवाव ने अस्सी हज़ार की लागत से कराया था। कहते हैं गरीव नवाज़ के तुफैल से उन्हें अस्सी वर्ष की आयु में पुत्र प्राप्ति हुई थी।

महफिलखाने के सामने एक हौज़ है, जो आमतौर पर खुश्क रहता है, लेकिन उर्स के दौरान पानी से लबरेज़ कर दिया जाता है। सन् १९११ में जार्जपंचम की मलिका मैरी ने दरबारे ख्वाजा में हाज़री दी और यादगार के रूप में हौज़ की छत्री का निर्माण करवाया।

हौज़ के पश्चिम में लंगरखाना है। इसमें हर रोज सुबह-शाम ढाई मन लंगर पकता है, जो फकीरों और गरीबों में बांट दिया जाता है। यहीं पर है शाहजहानी मस्जिद जिसे दो लाख चालीस हज़ार की लागत से १६३८ ई० में मुगल बादशाह शाहजहां ने बनवाया था।

दरगाह शरीफ के दक्षिण में एक झालरे का गहरा चश्मा है, जो कभी सूखता नहीं है। दरगाह शरीफ के इस्तेमाल का पानी इसी चश्मे से आता है तथा हिन्दू-मुसलमान बिना भेदभाव के झालरे के पानी का उपयोग करते हैं।

उल्लेख है कि ग़रीब नवाज़ का रोज़ा शुरू में काफी अर्से तक कच्चा बना रहा, लेकिन जब धीरे-धीरे आपके फैज़ की शौहरत फैलने लगी, तो ग़रीब और बादशाह, पीर और औलिया आपके दरबार में शर्फे बारयाबी के लिए हाज़िर होने लगे। चुनांचे सुलतान ग्यासउद्दीन ने सूफी हमीदुद्दीन नागौरी के माध्यम से रोज़े की तामीर कराई। कच्चे मजार पर गुम्बद व इमारत शरीफ तैयार कराई गई। सफेद गुम्बद पर सोने का बड़ा ताजदार कलस है जिसे नवाब रामपुर ने पेश किया था। गुम्बद के अन्दर के हिस्से में सुनहरी और लाजवर्दी काम है। छत में काशानी मखमल की सुनहरी छतगीरी का काम है। इसमें चांदी की जंजीरों से कमकमे लगे हैं जिनकी अन्दाजन कीमत पांच हजार रुपये की कमक़मा है। रोज़े के चारों तरफ फारसी में अशआर लिखे हैं।

ख्वाज़ा ग़रीब नवाज़ के मज़ारे मुबारक पर पहले संदल का छपरखट था, जिस पर सीप का बहुत बारीक खूबसूरत काम किया हुआ था। बाद में बम्बई के एक व्यापारी ने इस पर चांदी का पत्तर चढ़वा दिया। छपरखट के चारों तरफ चांदी का कठेरा है, जिसकी अनुमानित लागत एक लाख रुपये के करीब है। यह कठेरा पहले सोने का था, जिसे १०३५ हिजरी में मुगल बादशाह जहांगीर ने बनवाया था। इस कठेरे से दो फीट के फासले पर चांदी का एक और कठेरा हैं, जो जयपुर के महाराजा जयसिंह ने बनवाया था। गरीब नवाज़ का मजार हमेशा कमख्वाब के कब्रपोशों से ढका रहता हैं, जिन पर फूलों की चादर पड़ी रहती है। यहीं वह दर है जहां आका और गुलाम, मालिक और नौकर, बादशाह और ग़रीब-बिना किसी भेदभाव के अपना सिर झुकाते हैं। यहां कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, कोई हिन्दू नहीं, कोई मुसलमान नहीं। इस दर पर आकर सब एक हो जाते हैं। प्रेम और एकता का दर्स देने वाले ख्वाज़ा के शैदाई सभी को इस दर से मुरादें मिलती हैं।

आज भी ख्वाज़ा मुइनुद्दीन चिश्ती अजमेरी के उर्स में शिरकत के लिए बिना तफरीक मज़हबों-मिल्लत शमाए-ख्वाज़ा के लाखों परवाने दरबारे ख्वाज़ा में नज़रानाये अकीदत पेश करने के लिये अजमेर खिंचे चले आते हैं।

जमादी-उस्सानी, रविउलसानी महीने के ग्राखरी दिन, नये चांद के नजर ग्राते ही दरगाह के शाहजहानी दरवाजे पर नौवत-शहनाई की ग्रावाज़ गूंज उठती है ग्रौर इसके साथ ही दरगाह में कव्वालियों, दुरुदों ग्रौर दुग्राग्रो की सदाएं सुनाई देती हैं। वातावरण ग्राध्यात्म ग्रौर संगीत का संगम वन जाता है।

'ख्वाज़ा ! ग्रपने गुम्वद से दर्शन दे। मुखड़ा दिखा। वेकसों की ग्राहें सुन। ग़रीवों ग्रौर मोहताजों को भीख वांटने वाले संजरी ख्वाजा ग्रजमेरी, रहमकर, ख्वाजा, करम की नजर हो, नाकामियों को कामयावी में वदल दे।

यह सिलसिला पहली रजव से छः रोज़ तक चलता रहता है। कहते हैं, ख्वाज़ा गरीव नवाज़ जव ६ रोज तक ग्रपने हुजरे से वाहर तशरीफ नहीं लाये, तो खादिमों ने हुजरा देखा ग्रौर पाया कि ग्रापकी रूह जिस्म से परवाज़ कर गई है। उर्स के दौरान हर रोज़ ख्वाज़ा के ग्रकदितमन्दों की एक वड़ी तादाद हुजरे के दर्शन करती है। मज़ार पर फातिहा पढ़ी जाती है। मुरादों की कामयामी के लिए दुग्राएं की जाती हैं, मिन्नते मांगी जाती हैं। हर रोज महफिलखाने में देर रात तक कव्वालियों का क़ार्यक्रम चलता रहता है, जिसमें देश के जाने माने कव्वाल ग्रपने फन का मुज़ाहिरा करते हैं।

उर्स के दौरान वड़ी ग्रौर छोटी देगों में नियमितरूप से लंगर (खाना) पकाया जाता है। खादिमो द्वारा देग लूटने का दृश्य देखते ही वनता है।

दरगाह में वुलंद दरवाजे से ग्रागे वढ़कर दोनों तरफ ये दो देगें जीनेदार वुलंद चूल्हों पर नस्व है। इनमें एक देग वड़ी है ग्रौर दूसरी छोटी। वड़ी देग मुगल वादशाह ग्रकवर ने ९७६ हिजरी में दरगाह को नज़र की थी। इस देग का ग्राकार साढ़े तेरह गज है। इसमें सौ मन चावल ग्रासानी से पकाये ज़ा सकते हैं। छोटी देग, जहांगीर ने १०२२ हिजरी में ग्रागरे से लाकर दरगाह में स्थापित की थीं। इस देग में पांच हज़ार व्यक्तियों के लिये खाना वनाया जा सकता है। हर शख्स इन देगों में पका लंगर तवरूंक (प्रसाद) के रूप में प्राप्त् करना ग्रपना सौभाग्य समझता है।

उर्स के दौरान ही ख्वाजा के मजार पर चादर चढ़ाने की रिस्म ग्रदा होती है। साथ ही जारईन ग्रपने साथ लाई चादरें, खासतौर पर ऐसे जारईन जिनकी मुरादें वर ग्राती हैं, ख्वाजा के मजार पर ग्रकीदत के साथ नजर करते हैं।

उर्स के ग्राखरी दिन मज़ारे मुवारक को गुस्ल दिया जाता है। कुल की रस्म ग्रदा की जाती है ग्रौर 'मेरा हरियाला वना ग्राया' परम्परानुसार गाया जाता है। इसके साथ ही उर्स का कार्यक्रम समाप्त होता है। ग्रकीदतमंद ग्रपनी ग्रांखों को दीदार-ए-मजारे ख्वाज़ा से मुनव्वर करके लौटने लगते हैं। इन ग्रकीदतमन्दों में हिन्दू भी होते हैं, मुसलमान भी, सिख भी ग्रौर ईसाई भी। ख्वाजा का फेज सवके लिए समान है। प्रकृति की तरह कहीं कोई भेद-भाव नहीं, सभी को यह कहते पाया जाता है।

□ □

सीताबाड़ी

श्री ब्रजेश चंचल

किसी भी पर्व विशेष पर अपने शीतल अन्तस्तल में सहस्त्रों श्रद्धालुओं को भर लेने वाली सीतावाड़ी एक प्राचीन धार्मिक स्थल है। यह स्थान कोटा नगर से लगभग ९२ किलोमीटर दूर उत्तर पूर्व में स्थित है। वैसे इसके अति प्राचीन होने के कारण इसके निर्माण सम्बन्धी शिलालेख कहीं उपलब्ध नहीं हैं। मगर, जितने भी भग्नावशेष हैं उन्हें देखकर लगता है, यह स्थल लगभग वारहवीं, तेरहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ होगा।

केलवाड़ा ग्राम से सघन हरे पेड़ों का झुटपुटा सा दिखाई देने लगता है। अर्ध सुर्ख वालू रेत की भूरी-भूरी दो तीन पगडंडियां, (अब तो वसों, कारों आदि के लिए सड़क जैसी भी बनादी गई है) पार कर यात्री सर्वप्रथम लक्ष्मण कुण्ड पर पहुँचता है।

लक्ष्मण कुण्ड लगभग बीस-पचीस मीटर का वर्गाकार पानी से भरा कुण्ड है। इसमें वारह महीने पानी रहता है। तीनों ओर तीन तिवारियां हैं, और पूर्व की ओर आमुख लक्ष्मणजी का विशाल मन्दिर है, जिसके चूड़ी उतार गुम्वज की प्राचीन पच्चीकारी बड़ी चित्ताकर्षक है। गुम्बज के अग्रभाग पर दो सिंह प्रतिमाएं हैं। अन्तरिम कक्ष में लक्ष्मणजी की आदम कद गौर प्रतिमा है। सुसज्जित वस्त्राभूषण, हाथ में तीर-कमान लिए प्रतिमा सजीव सी प्रतीत होती है। कहा जाता है, सीता के अरण्य प्रवास काल में स्नान के लिए लक्ष्मणजी ने ही यहां पाताल गंगा को प्रकट किया था। पहले यह धारा निर्बाध रूप से अस्त-व्यस्त वहा करती थी। कालान्तर में स्थायी रूप से संचित रहने के लिए इस जल को वर्ग क्षेत्र में बांध दिया गया है। पर्व और मेले आदि के अवसरों पर हजारों पुरुष स्त्रियां यहां दर्शनार्थ आते हैं और कुंड का पानी पीते हैं।

इस कुंड का पानी पवित्र और उदर रोगों के निवारणार्थ श्रेष्ठ माना जाता है। इस कुंड पर नहाना व वस्त्रादि धोना निषेध है।

सीतावाड़ी को कुंडों की वाटिका कहा जाये तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। छोटे बड़े यहां कुल मिला कर सात कुंड हैं। जिनमें से तीन कुण्ड ही प्रधान कुंड हैं–

पहला–सीता कुंड, दूसरा–सूरज कुंड, और तीसरा–लक्ष्मण कुंड। चौथा राम कुंड भी है, जिसमें न तो पानी ही है और न उसकी दीवारें ही पूरी हैं। सब कुछ टूट-फूट सा गया है।

सूरज कुंड यहां का सर्वोत्तम, मनोहारी, स्वच्छ नीर से भरा हुआ डेढ़ मीटर वर्ग क्षेत्र का, संगमरमरी धरातल वाला कांच के चौकोर कटोरे सा सूरज कुण्ड है जिसमें एक साथ बीस बीस स्नानार्थियों का समूह एक बारगी उतर जाता है। उनके बाहर आते ही फिर दूसरा, फिर तीसरा। यही क्रम चलता रहता है कार्तिक पूर्णिमा के पर्व पर, पर इस कांच कटोरे के पानी की निर्मलता में कोई अन्तर नहीं आता। इस कुण्ड के पानी से किसी काल में कुष्ट रोग भी ठीक हो जाया करते थे। इस कुण्ड के चारों ओर तिवारियाँ और एक तिवारी में शिव प्रतिमा स्थापित है, जहां बारहों महीने एक जीवित सर्प चक्कर लगाया करता है। मगर वह कभी किसी को नुकसान नहीं पहुँचाता।

पौराणिक महत्व के सन्दर्भ में पता नहीं, वस्तु सत्य क्या है? लेकिन लोग अभी तक भी इस स्थल को वाल्मिकि आश्रम के नाम से ही सिर झुकाते हैं। जहां पर अग्नि परीक्षा के उपरान्त भी महासती सीता को एक बार पुनः परित्याग का कष्ट वहन करने के निमित्त आना पड़ा था। सीता की सब प्रकार की सुख सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए लक्ष्मण, अरण्य- वासी, वाल्मिकि ऋषि आदि ने सहयोग कर छांव, पानी आदि की सभी व्यवस्थाएं इसी निमित्त की बताते हैं। यहीं पर लव-कुश का जन्म हुआ और उनको शास्त्र ज्ञान एवं शस्त्र विद्या दी गई।

रामचरित के उसी मूल भाव को लेकर हजारों नर-नारी यहां कार्तिक पूर्णिमा पर स्नान करने आते हैं। चन्द्र ग्रहण या सूर्यग्रहण पर तो यहां मेला सा लग जाता है। कई लोग सीता माता और लक्ष्मण जती की मनौती मानकर अपने बच्चों के मुंडन, यज्ञोपवीत आदि संस्कार तक यहीं पूर्ण कराते हैं। वैसाख वदी तृतीया से पूर्णमासी तक यहां पर पशुओं का एक विशाल मेला लगता है। इस काल में सीतावाड़ी की छटा भी विशेष रूप से दर्शनीय होती है।

यहां से लगभग ५ किलोमीटर उत्तर में बिल्कुल निर्जन और बंजर धरती में एक स्थल पर ठण्डे पानी की धारा झरने के सदृश जमीन के भीतर से मीटर भर ऊंची उछाल के साथ गिरती है इसे बाण गंगा कहते हैं। कहते हैं, सीताजी को प्यास लगने पर लक्ष्मणजी ने बाण मारकर यहीं गंगा का आव्हान किया था। इसका पानी धीरे धीरे होकर फिर सीधा सीतावाड़ी की ओर आमुख हो सारण में मिल जाता है। यह सारण

(झरनो) कभी नहीं सूखती है, और अब तो इसके पानी से ५-६ हजार बीघा जमीन में सिंचाई भी की जाती है।

पर्णकुटी (सीता कुटी)—यह सूरज कुंड से पूर्व दिशा की ओर १ किलोमीटर की दूरी पर एक कुटिया है जो संपूर्ण वृक्षों की सूखी टहनियों से निर्मित एवं पत्तों से आच्छादित है। टहनियों की गुंथावट इस प्रकार मजबूत है जो न हवा से हिलती है और न आंधी से गिरती है। कुटिया के अन्तरिम कक्ष में एक चौकोर पत्थर के टुकड़े पर दो छोटे छोटे पद चिन्ह हैं। जिन्हें सीता के चरण मानकर पूजा जाता है।

एक और दर्शनीय स्थल है हांके का थम्भ। यहीं से तीन किलोमीटर की दूरी पर दक्षिण पूर्व में सघन जंगल है। इतना सघन कि बारह महीनों सूर्य की किरण भूतल को नहीं छू सके। यहीं पर शिकार का हांका लगाया जाता है। राजाओं के राज्य में केवल कोटा नरेश ही इस जंगल में शिकार कर सकते थे, अन्य शिकारियों को राजाज्ञा से ही शिकार करने का अधिकार था। यह अधिकार अब राजस्थान सरकार के हाथ में है। इस जंगल में शेर, चीते, भालू, बारहसिंघा सभी पशु विचरण करते हैं।

अध्ययन के आधार पर इस स्थल की सीमा मध्यप्रदेश से अधिक समीप लगती है। पगडण्डी के छोटे मार्ग से चलने पर लगभग बारह किलोमीटर की दूरी पर ही मध्यप्रदेश के छोटे नगर गुना पहुँचा जा सकता है और ये ही पगडण्डिया आगे चलकर दण्डकारण्य वन मे जा मिलती हैं जहां वास्तव में लक्ष्मणजी (रामचरित मानस के आधार पर) सीता को परित्यक्त स्थिति में छोड़ गये थे।

जहाँ एक ओर सीतावाड़ी मई-जून की तपती दोपहरियों में अपनी प्राकृतिक शीतलता के लिए विख्यात है वहां पर कुछ ऐसे अप्रतिम चमत्कार भी रखती है, जिसके कारण इसका वैभव झुंठलाया नहीं जा सकता। यह सम्पूर्ण दो किलोमीटर क्षेत्र से घिरी वाटिका यदि आम्र-वाटिका कही जाये तो न्याय संगत ही होगा। क्योंकि यहां पिच्यानवे प्रतिशत वृक्ष आम के ही हैं और सम्भवतया सम्पूर्ण भारत में एक यही स्थल ऐसा होगा, जहां पर आम जैसा मधुर-मीठा फल निशुल्क खाने को मिलता है। वहां पर न तो कोई आम विक्रेता है और न खरीददार। सब अपनी अपनी इच्छा से जैसा और जितना चाहें खा सकते हैं। मगर हां, स्मरण रहे यहां का आम या कैरियां गांठ बांधकर कोई ले जा नहीं सकता। कोई चोरी छुपे से ले भी गया तो सीतावाड़ी की सीमा लांघते ही एक दो घण्टे में वे सभी आम सड़ जाते है, या सूख जाते हैं।

कुल मिला कर सीतावाड़ी एक प्राकृतिक दर्शनीय तीर्थ-स्थल है जो अपनी धार्मिकता, नैतिकता, चमत्कार आदि कारणों से अभी तक हज़ारों पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है।

☐ ☐

देशनोक

• श्री चन्द्रदान चारण

शक्ति-पूजा की परम्परा भारत में बहुत पुरानी है। राजस्थान में भी अनेक शताब्दियों से शक्ति-पूजा प्रचलित है। यहां चारण जाति में उत्पन्न होने वाली देवियों की संख्या ही ८४ है। इनमें करणी माता अथवा श्री करणीजी बहुत ही प्रसिद्ध हैं। सदियों से इनकी यहां पूजा की जाती है। यों तो सभी जातियों के लोग इनके उपासक हैं पर चारणों और राजपूतों में इनकी मान्यता अधिक है। राठौड़ों की तो वे कुल देवी हैं क्योंकि जोधपुर और बीकानेर राज्यों की स्थापना उन्हीं के आशीर्वाद और सहयोग से हुई थी।

श्री करणीजी का जन्म वि० सं० १४४४ की आसोज सुदी ७ को सुवाप नामक गांव में चारणों की किनिया शाखा में हुआ। कहा जाता है कि २१ मास के गर्भवास के बाद इनका जन्म हुआ था जो अपने आप में एक आश्चर्यजनक घटना है। इनके पिता का नाम मेहाजी तथा माता का देवल बाई था। इनका जन्म का नाम रिद्धिबाई था एवं इनके पहले पांच बहिनें और हो चुकी थीं। राजस्थान में कन्या का जन्म हर्ष का कारण नहीं होता अतः इनकी भुवा ने इनके सिर पर ठोला मारते हुए कहा—'फिर पत्थर आ गया।' कहा जाता है कि इस पर भुवा की हाथ की अंगुलियां जुड़ गईं। इस चमत्कार को देख भुवा ने मेहाजी से कहा—'यह लड़की संसार में अपनी कुछ करनी दिखलायेगी। इसे अब सब करनी ही कहें।' तभी से इनका नाम करणी पड़ गया और अपने भावी जीवन में वे इसी नाम से विख्यात हुई।

श्री करणीजी ने अपनी छोटी आयु में ही कुछ ऐसे कार्य किये जिनके कारण इनकी प्रसिद्धि आस पास के प्रदेशों में फैल गयी । पांच वर्ष की आयु में इन्होंने अपनी भुवा की जुड़ी हुई अंगुलियां ठीक कर दीं । ६ वर्ष की उम्र में इन्होंने अपने पिता का सर्प-विष उतार कर उन्हें पुनः जीवन प्रदान किया । जब यह बात पूगल के स्वामी राव शेखा ने सुनी तो वह सुवाप आया । उसके पास लगभग १४० आदमी थे । श्री करणी जी ने उन सबका आतिथ्य किया । दही की एक हंडिया और थोड़ी सी रोटियों से ही श्री करणीजी ने उन सबको ऐसा तृप्त किया कि वे लोग कहने लगे—'हमने इतना मलाईदार और स्वादिष्ट दही आज तक कभी नहीं खाया । राव शेखा श्री करणीजी के पैरों पर गिर पड़ा । उन्होंने उसे शत्रुओं पर विजय का वरदान दिया ।

राव शेखा और उसके साथी थोड़े थे एवं शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी तो भी राव शेखा की विजय हुई । वह पुनः सुवाप पहुंच और श्री करणीजी को अपनी बाहन बनाकर उनसे राखी बंधाई । बाद में श्री करणीजी के सहयोग से ही राव शेखा की लड़की का विवाह जोधाजी के पुत्र बीकाजी से हुआ था । राव शेखा उस समय मुलतान में कैद था । वह विकल होकर बार बार श्री करणीजी को प्रार्थना करने लगा । श्री करणीजी ने वहां पहूंच कर उसे मुक्त कराया और यह शपथ दिलाई कि वह भविष्य में डाका नहीं डालेगा ।

श्री करणीजी का विवाह लगभग २९ वर्ष की उम्र में साठीका गांव के चारण देपाजी से हुआ था । विवाह के बाद साठीका लौटते समय उन्होंने अपने पति को मार्ग में ही संकेत कर दिया कि 'मेरे जीवन का उद्देश्य भोग-विलास करना नहीं है बल्कि उन शासकों और जागीर- दारों को ठीक राह पर लाना है जो गरीब जनता पर भांति भांति के अन्याय एवं अत्याचार करते हैं । आप गृहस्थी चलाने के लिए मेरी बहिन से विवाह करलें ।' कहा जाता है कि श्री करणी जी के अनुरोध पर देपाजी ने उनकी छोटी बहिन गुलाब बाई से विवाह कर लिया और उनसे देपाजी को एक पुत्री व चार पुत्र हुए ।

श्री करणीजी के साठीका पहुंचने पर ससुर ने बहुत हर्ष प्रकट किया पर गांव के दूसरे लोग उनके साथ २०० गायें देखकर घबरा गये । कारण, उस गांव में एक ही कुंवा था और उसमें पानी इतना कम था कि गांव के लोग और पशुओं को ही पूरा नहीं पड़ता था । अतः श्री करणीजी ने अपने परिवार के सारे लोगों एवं पशुओं को लेकर साठीका से किसी नये स्थान के लिए प्रयाण किया जहां पशुओं को पानी चारे की कमी न रहे । उनका निश्चय था कि जहां आज का सूर्य अस्त होगा वहीं हमारा स्थायी निवास स्थान होगा ।

यह दल जांगलू पहुंचा । वहां उस समय राव चूंडा राठौड़ का पुत्र कान्हा अधिकार जमाये हुए था । राव चूंडा का दूसरा पुत्र रिड़मल (रणमल्ल) तो श्री करणीजी का भक्त था पर पशुओं को पिानी पलाने और चराने के सवाल को लेकर

श्री करणीजी के नौकरों एवं कान्हा के नौकरों में विवाद बढ़ गया। श्री करणीजी ने जांगलू से कुछ मील दूर अपना डेरा जमा लिया और कान्हा के कहने पर भी वहां से नहीं हटे। कान्हा क्रोध से उत्तेजित हो उठा। दर दर भटकने वाली एक चारणी की यह हिम्मत ? मेरे जैसे शक्तिशाली शासक को एक साधारण स्त्री की यह चुनौती ? वह अपने दल-बल सहित वहां आया। उसने आते ही पूछा—कहां है वह जादूगरनी चारणी ? श्री करणी जी ने झोंपड़ी से बाहर आकर कहा—बोल क्या कहता है ? वह मैं ही हूं जिसको तू ढूंढ रहा है। कान्हा बोला—निकल जा मेरे राज्य से। श्री करणीजी वहां से जाने को सहमत हो गयी, लेकिन इस शर्त पर, कि उनकी सेवा की सन्दूकड़ी बैलगाड़ी में रख दी जाय। कान्हा और उसके नौकरों ने अपने पूरे बल के साथ कोशिश की लेकिन लकड़ी की एक छोटी सी पिटारी अपने स्थान से न हटाई जा सकी। यह देख कान्हा झल्लाया—तेरी जैसी जादू-टोना जानने वाली औरतें मैंने बहुत देखी हैं। यदि तू सचमुच देवी है तो बता कि मेरी मौत कब होगी ? इस बारे में विवाद इतना बढ़ा कि अन्त में श्री करणीजी ने धरती पर एक लकीर खींच कर कहा कि ज्योंही तुम इसको पार करोगे तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी। कान्हा ने ज्यों ही उस लकीर को लांघना चाहा त्यों हीं उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

कान्हैं लोपी कार, मति-हीणे पायो मरण।
बाघ थयी तिणवार, सझि हाथल मेहा सदू ॥

श्री करणीजी की सलाह से रिड़मल (रणमल्ल) जांगलू का स्वामी बना और बाद में इनकी कृपा से मंडोवर का भी शासक बना। जोधाजी के राजा बनने पर जोधपुर के किले की नींव श्री करणी जी ने ही डाली थी।

श्री करणीजी जब लगभग ६७ वर्ष के थे तब उनके पति देपाजी का देशनोक में स्वर्गवास हो गया था। अन्त में १५१ वर्ष की दीर्घायु में वि० सं० १५९५ की चैत्र शुक्ला नवमीं को श्री करणीजी ने भूतपूर्व बीकानेर एवं जैसलमेर राज्यों की सीमा पर स्थित धिनेरू की तलाई पर अपना शरीर त्याग किया।

श्री करणीजी ने अपने स्थायी निवास के लिए जो स्थान चुना, वह उनके मतानुसार देश की नाक होने से, देशनोक कहलाया और यही शब्द बाद में बिगड़ कर देशनोक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह स्थान बीकानेर नगर से दक्षिण की ओर लगभग ३२ किलोमीटर दूर है एवं रेल तथा सड़क से जुड़ा हुआ है। यहां उनका प्रसिद्ध मन्दिर है जहां वर्ष में दो बार नवरात्र मेले (चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से चैत्र शुक्ला नवमी तक तथा आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से आश्विन शुक्ला नवमी तक) लगते हैं। मन्दिर में हजारों चूहे है, इन्हें 'काबा' कहा जाता है और इनकी रक्षा का कड़ा प्रबन्ध है।

मन्दिर का सिंह द्वार संगमरमर का बना हुआ है। बीकानेर के सेठ श्री चांदमलजी ढड्ढा ने इसका निर्माण कराया था। यह द्वार स्थापत्य कला का सुन्दर नमूना है। इसकी

उत्कीर्ण-कला दर्शनीय है। मन्दिर का कोट बीकानेर के महाराजा सूरतसिंहजी ने बनवाया था। श्री करणीजी के 'निज-मन्दिर' के किवाड़ सोने के हैं। ये अलवर के महाराजा श्री बख्तावरसिंह जी ने भेंट किये थे। बीकानेर के महाराजा डूंगरसिंहजी ने मूर्ति के ऊपर लगा हुआ सोने का तोरण, मूर्ति के सामने लगा सोने का कटहरा तथा सोने का एक बड़ा छत्र भेंट किया। इसके उपरान्त बीकानेर के महाराजा गंगासिंहजी ने, जो श्री करणीजी के अनन्य भक्त थे, लगभग सारा मन्दिर संगमरमर का बनवा दिया एवं पूजन-सामग्री के सभी बर्तन सोने-चांदी के बनवा दिये। इनके अतिरिक्त सोने-चांदी के अनेक छत्र हैं जो श्रद्धालु भक्तों ने अपनी मनोकामना की पूर्ति पर भेंट किये हैं। कई अन्य दरवाजों के किवाड़ चांदी के हैं जो विभिन्न सेठों ने बनवाये हैं। इन किवाड़ों पर बनवाने वालों के नाम अंकित हैं।

जिस समय श्री करणीजी की मूर्ति स्थापित की गयी थी उस समय यहां श्री करणीजी की आराधना करने की गुफा ही थी। जब बीकानेर के राव जैतसी ने भरनेर के युद्ध में विजय प्राप्त की तो इसके उपलक्ष में गुफा के ऊपर एक कच्चा कमरा बनवा दिया। बाद में महाराजा सूरतसिंहजी ने उस कच्चे कमरे को तुड़वा कर उसकी जगह पक्का गुम्बददार मन्दिर बनवा दिया तथा उसके चारों ओर पक्का परकोटा एवं सिंह द्वार बनवा दिया। इसके बाद महाराजा गंगासिंहजी ने सारा मन्दिर संगमरमर का बनवा दिया।

श्री करणीजी के मन्दिर में असंख्य चूहे है। उन्हें 'काबा' कहते हैं। इनका रंग रूप घरों में पाये जाने वाले चूहों से भिन्न होता है। ये मन्दिर में आजादी से इधर उधर विचरण करते हैं। इन्हें खाने के लिए दूध, अनाज एवं मिठाई दी जाती है। प्रातः ५ बजे अथवा सायं ७ बजे की आरती के समय 'काबों' का विशाल जुलूस दिखायी पड़ता है। उस समय प्रत्येक व्यक्ति को पैर घसीटते हुए चलना पड़ता है ताकि कोई 'काबा' पैर के नीचे दब कर न मर जाय। यदि किसी यात्री से ऐसा हो जाता है तो नियमानुसार चांदी का 'काबा' बनवा कर चढ़ाना पड़ता है। ये 'काबे' यात्रियों के शरीर पर भी निडरता ले चढ़ जाते हैं पर ये किसी को काटते नहीं। सफेद 'काबे' का दर्शन शुभ माना जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि चूहों की इतनी बड़ी संख्या होने पर भी यहां आज तक कभी प्लेग नहीं हुआ। यह श्री करणीजी का चमत्कार माना जाता है। इतने 'काबों' वाला देवी का मन्दिर विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है। सफेद 'काबों' की तरह सफेद चील के दर्शन भी शुभ माने जाते हैं।

श्री करणीजी से सम्बन्धित अनेक चमत्कारपूर्ण कथाए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जा रहा है—

एक बार श्री करणीजी के पिता की सर्प-दंश से मृत्यु हो गयी। श्री करणीजी को जब यह ज्ञात हुआ तो वे अपने मृत पिता के शरीर के पास गयीं और उनके मुख में अपनी अंगुली दी। कहा जाता है कि इस पर वे तत्काल पुनः जीवित हो गये।

श्री करणीजी जोधपुर के किले की नींव रख कर वापिस लौट रही थीं। उनके भक्त अमरजी बारठ के प्रार्थना करने पर वे मार्ग में मथानिया में रुकीं। वहां कुछ दिन ठहरने के बाद विदा होते समय उन्होंने गांव वालों को वरदान दिया—इस गांव में कभी महामारी नहीं होगी, ओलों से फसल नष्ट नहीं होगी एवं गांव में आग लगने पर एक घर के बाद दूसरा घर नहीं जलेगा। यह वरदान मथानिया गांव में आज तक फलीभूत होता है।

श्री करणीजी का एक भक्त झगड़ू शाह था। यह व्यापारी चित्तौड़ का रहने वाला था पर राणा मोकल के अप्रसन्न होने पर मारवाड़ के गांव खींवसर में बस गया था। संकट काल में स्मरण करने पर संकट निवारण का वरदान श्री करणीजी ने झगड़ू शाह को दिया था। एक बार सेठ की नाव माल सहित डूबने लगी। उसने पुकारा 'हे करणी' कहा जाता है कि श्री करणीजी उस समय गाय दुह रही थी। उन्होंने हाथ फैलाकर उसकी नाव को किनारे लगा दिया। यह घटना सम्वत् १५१६ भाद्र शुक्ला १० को घटित हुई थी।

सदियां आयीं और चली गयीं। साम्राज्य बने और बिगड़े। काल चक्र ने बड़े बड़े विजेताओं के ऊंचे स्मारकों को मिट्टी में मिला दिया। पर श्री करणीजी की पूजा आज भी उसी भक्ति भाव से की जाती है जैसे कि उनके जीवन काल में ही होने लगी थी। राजस्थान के जन–जीवन पर उन्होंने जो अमिट छाप डाली उसे कोई न मिटा सका। असंख्य चूहों से भरा श्री करणीजी का देशनोक स्थित मन्दिर विश्व में अपनी दृष्टि से अनूठा है। वह आज भी जन जन को कह रहा है, यहां आकर श्री करणीजी के दर्शन करो और अपने बड़े से बड़े संकट से छुटकारा पाओ। राजस्थान में यह शक्ति आज भी प्रसिद्ध है।

मोती समो न ऊजलो चंनण समो न काठ
करणी समो न देवता गीता समो न पाठ ॥

तिलवाड़ा

• श्री भूरचन्द जैन

मारवाड़ के राव तीडाजी के तीन पुत्र थे। कान्हड़देव, त्रिभुवन और सलखा। राव तीडाजी के स्वर्गवास के पश्चात् राव कान्हड़देव को सबसे बड़े पुत्र होने के नाते महेवे-खेड़ का राव बनाया गया। इनके राज पद सम्भालने के तुरन्त पश्चात् मुगल शासकों की सेना ने जो सिवाने की तरफ से इस ओर आई, इनके शासन को छीन लिया। समय गुजरता गया। इन्होंने मुगल शासकों को हटाने का बहुत प्रयत्न किया और अन्त में युद्ध सामग्री जुटाकर मुगलों से वापिस खेड़ को अपने अधीन में कर भी लिया। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके छोटे भाई त्रिभुवनसी गद्दी पर बैठे। लेकिन राव सलखा जो इनके छोटे भाई थे, इनके पुत्र और राव मल्लीनाथ में आपसी अनबन हो जाने के कारण, उन्होंने मुगल शासकों की सहायता से इन्हें गद्दी से हटा दिया। इसके पश्चात् राव तीडाजी के तृतीय और राव त्रिभुवनसी के सबसे छोटे भाई सलखाजी को खेड़ की राजगद्दी पर बैठाया गया।

राव सलखाजी के कोई भी पुत्र न होने की वजह से वे अधिकतर चिन्तित रहते थे। एक समय राव अपने सैनिकों के साथ शिकार खेलने के लिये जंगल की तरफ गये। शिकार की खोज में बहुत दूर निकल गये फिर भी शिकार हाथ नहीं आया और प्यास भी जोरों से सताने लगी। इधर-उधर भटकने के पश्चात् जंगली झाड़ियों से धुंआ निकलता दिखाई दिया, वे वहां गये। वहां एक तपस्वी तपस्या कर रहा था, इन्होंने जाकर पानी मांगा। तपस्वी ने कमण्डल की तरफ इशारा किया, जिसमें नाम मात्र का पानी था। उसे आपने पीना शुरू किया तो पीने के पश्चात् तपस्वी ने कहा कि अब अपने घोड़े को भी

पानी पिला दो। शून्यमात्र पानी से दोनों प्राणियों की प्यास बुझी। राव तपस्वी के इस चमत्कार की तरफ आकर्पित हुए। उन्होंने अपनी आन्तरिक पीड़ा का उल्लेख किया कि महाराज! मुझे और सभी प्रकार के सुख हैं लेकिन मेरे कोई सन्तान नहीं है अतः ऐसा उपाय बतायें कि मेरे भी कोई पुत्र हो जाय। मेरे तीन रानियां हैं।

तपस्वी ने पीड़ित एवं बुद्धिमान योद्धा पर दया करके एक गोला और चार सुपारियाँ दीं जिसे लाकर उन्होंने अपनी तीनों रानियों को खिलाया। रानी—जाणीदे से मल्लीनाथ एवं जेतमाल, रानी—जोइया से वीरमदेव और रानी—गोरज (गवरी) से सौगित नामक पुत्र उत्पन्न हुए।

राव सलखाजी के पुत्र-जन्म की एक कथा का उल्लेख इस प्रकार भी आता है कि जब इनके सबसे बड़े भाई राव कान्हड़देव महेवे के शासक थे उस समय इन्हें छोटी जागीर दी गई थी। एक समय घरेलू सामान लेकर वापिस घर की ओर जारहे थे कि रास्ते में इन्हें नदी के किनारे चार नाहर भख खाते हुए नजर आये। सलखाजी इस शकुन को देखकर अपने घोड़े से नीचे उतरे और अपने साथ जो नौकर था उसे अपना घोड़ा सम्भला कर शकुन-फल पूछने के लिये अपने बड़े भाई राव कान्हड़देव के पास पहुंचे। राव कान्हड़देव शकुन के अच्छे जानकार थे। उन्होंने कहा कि वे अपने साथ लाये सामान को यदि अपनी रानियों को खिला देंगे तो उनके चार पुत्र बड़े ही वीर, पराक्रमी, योद्धा, चतुर और शासक होंगे। राव सलखा इस फल को सुनकर सीधे घर आये और अपनी रानियों को अपने साथ लाई वस्तुओं को खिला दिया। फिर इनके चार पुत्र उत्पन्न हुए।

सबसे ज्येष्ठ पुत्र मल्लीनाथ थे। जब ये १६ वर्ष के हुए तब वि० सं० १४३१ में इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता के स्वर्गवास के पश्चात् वे अपने तीनों छोटे भाइयों के साथ अपने चाचा राव कान्हड़देव के पास रहने लगे। राव कान्हड़देव ने मल्लीनाथ की कार्यकुशलता को देखकर अपने राज्य का सारा प्रबन्ध इनको सौंप दिया। कुछ समय के पश्चात् कान्हड़देव का स्वर्गवास हो गया और उनके पीछे उनका छोटा भाई राव त्रिभुवनसी महेवे खेड़ की गद्दी पर बैठा। राव त्रिभुवनसी और मल्लीनाथ में आपसी सम्बन्ध राज्य कारणों के कारण अधिकाधिक बिगड़ने लगे। इस पर मल्लीनाथ ने मुगल शासकों के सहयोग से अपने चाचा को हराकर महेवे-खेड़ की सत्ता अपने हाथ में ले ली। प्रजा ने इस कार्य का स्वागत किया।

पूत के पग पालने में ही दिखाई देते हैं। अभी ये २० वर्ष की अल्पायु में ही होंगे पर खेड़ के शासन को बड़ी ही कुशलता और बहादुरी से चलाने लगे। इनकी चालाकी और लूट-खसोट के कारण मंडोर, मेवाड़, आबू और सिन्ध के शासक भी घबरा जाते थे। वे जहां कहीं पर भी जाते अपनी वीरता और बुद्धिमता से सदा सफल होकर वापिस लौटते। दिल्ली बादशाह ने उस समय एक नये प्रकार का दड डाला। उसके सेवक देश के सभी भागों से दण्ड वसूल करने के लिये घूमने लगे। वे महेवे भी आये। लेकिन राव मल्लीनाथ

ने करोड़ियों को दण्ड नहीं दिया वल्कि उन्हें अपने सरदारों के साथ अलग-अलग दण्ड वसूली के लिये भेजा और उन्हें मरवा दिया। इससे दिल्ली वादशाह बहुत ही नाराज हुआ। पहले भी मुगल वादशाह को राव मल्लीनाथ की डकैतियों के समाचार प्राप्त होते रहते थे। वादशाह ने राव मल्लीनाथ को पकड़ने के लिये १३ तरफ़ से उन पर आक्रमण किया लेकिन वलिदान के साथ विजय राव मल्लीनाथ को ही मिली। अपने पर १३ तरफ से होने वाले आक्रमण पर विजय प्राप्त करने के कारण आज भी यहां एक कहावत प्रचलित है 'तेरह तुंगा भांगिया माले सलखांणी' अर्थात् राव सलखाजी के पुत्र राव मल्लीनाथ ने तेरह तरफ से होने वाले मुगल-आक्रमण को भी हरा दिया। वीरता के अंकुर इनकी नस-नस में भरे हुए थे। यह घटना भी इनके राज्य-शासन सम्भालने के एक वर्ष पश्चात् ही हुई थी। फिर भी आपने बड़ी ही चतुराई, निडरता, और साहस के साथ विजय प्राप्त की।

राव मल्लीनाथ के प्रति इस क्षेत्र में अत्यधिक विश्वास था और परोपकारी होने के कारण लोगों के दिलों में इनके प्रति अटूट प्रेम और श्रद्धा थी। हर प्रकार से जनता द्वारा इनका सम्मान किया जाता था। एक समय मुगल वाहशाहों ने इनके बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिये असंख्य सेना राव मल्लीनाथ को मारने के लिये भेजी। अचानक मुगल सेना के आने से जनता भयभीत होकर भागने लगी। इस पर राव मल्लीनाथ ने कहा कि यह सेना तो ज्योंही अपने क्षेत्र में प्रवेश करेगी आपस में लड़कर स्वयं ही खत्म हो जायेगी। आपकी इस वाणी में सत्यता प्रकट होते देर नहीं लगी और यवन सेना ने ज्योंही महेवे की सीमा में प्रवेश किया कि वह अपनी सूझबूझ खो बैठी और आपस में ही लड़कर खत्म हो गई। आपकी इस सत्यता के कारण जनता आपको सिद्ध-पुरुष का रूप मानने लगी।

राव मल्लीनाथ का जन्म वि० सं० १४१५ में हुआ। आपकी पत्नी का नाम रूपादें था। जिनसे इनके ५ पुत्र हुए (इस सम्वन्ध में विभिन्न मत हैं। कहीं आपके ६ पुत्र होने वताये गये हैं तो कहीं पर ८)। इनका सवसे वड़ा पुत्र जगमाल मालावत था।

आगे चलकर राव मल्लीनाथ और उनके भाई वीरमदेव के आपसी सम्वन्ध ख़राव होने की वजह से यह अलग रहने लगे। राव मल्लीनाथ के वंशज मालानी की मठियों में रहने लगे और वीरमदेव के वंशज किलों में रहने लगे। इस सम्वन्ध में एक कहावत मारवाड़ में वहुत प्रचलित है।

"मला रा मड्ढे नै वीरम रा गड्ढे"

राव मल्लीनाथ के नाम से ही मालानी का नामकरण हुआ है। परन्तु कुछ लोगों की राय है कि इस क्षेत्र में मल्लीया माली वहुत रहने के कारण ही इसका नाम मालानी पड़ा है। कुछ भी हो अधिकतर लोगों की राय राव मल्लीनाथ के नामकरण से ही मालानी शब्द को जोड़े हुए हैं। आज भी मालानी (वाड़मेर जिले) में राव मल्लीनाथ को बहुत ही आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन्हें अव पूज्यनीय रूप दिया गया है क्योंकि आप सिद्ध-पुरुष हुए हैं। इनके स्वर्गवास के सम्वन्व में वताया जाता है कि आपने

बाड़मेर जिले के तिलवाड़ा ग्राम के पास लूनी नदी की तलहटी में वि० सं० १४५६ में चिर समाधि धारण की थी ।

तिलवाड़ा का मेला आज से २०० वर्ष पूर्व से आयोजित होता आ रहा है। सर्वप्रथम यह मेला राठोड़ राव मल्लीनाथ के श्रद्धालु भक्तों द्वारा उनकी यादगार में लगाया जाता था और वहां पर उस समय साधु समाज एवं उनके देवी चमत्कारों से प्रभावित असंख्य जनमानस अपने साथ यातायात के अभाव में मारवाड़ी नस्ल के ऊंट, मालानी नस्ल के घोड़े अधिक तादाद में यहां लाया करते थे। इस प्रकार इन पशुओं की संख्या भी मेले के अन्दर बढ़ने लगी। एक दूसरा अपने पशु की कीमत आंकने लगे और क्रय-विक्रय भी करने लगे। धीरे धीरे यहां पर ऊंटों और घोड़ों के अतिरिक्त अन्य पशुओं का भी क्रय विक्रय होने लगा। मल्लीनाथ के इस मेले ने विराट पशु मेले का रूप धारण कर लिया। इसे मल्लीनाथ बाबा का मेला, चैत्री पशु मेला, तिलवाड़ा पशु मेला और तिलवाड़ा चैत्री पशु मेले के नाम से पुकारा जाने लगा। जो राजस्थान के गौरव को ही नहीं बल्कि भारतवर्ष के पशु मेलों में पशु धन की कीमत आंकने और देश में अच्छी नस्ल को प्रचलित करने में अपना विशिष्ठ स्थान रखता है।

मेला बाड़मेर की पंचायत समिति बालोतरा में आता है और जोधपुर से पश्चिम की ओर बाड़मेर-मुनाबा जाने वाले रेल मार्ग पर तिलवाड़ा स्टेशन से ६ किलोमीटर दूर लूनी नदी की तलहटी में प्रति वर्ष चैत्र कृष्णा ११ से चैत्र शुक्ला ११ तक लगातार १५ दिन तक लगता है। तिलवाड़ा स्टेशन से तिलवाड़ा मेला स्टेशन तक रेल मार्ग बना हुआ है। मेले के दिनों में तिलवाड़ा मेला स्टेशन भी कार्य करता है। इस अवसर पर रेलवे विभाग से विशेष यात्रा एवं मालवाहन गाड़ियों का भी प्रबन्ध होता है। बालोतरा रेलवे जंक्शन से ३४ किलोमीटर दक्षिण पश्चिम में होने से यहां से मे लेके दिनों में विशेष बस गाड़ियां चलती रहती हैं।

मेले के दिनों में लूनी नदी की तलहटी एक विशाल नगरी का रूप धारण कर लेती है। जहां ५०,००० से भी अधिक भक्तयात्री एकत्रित होते हैं। हजारों की तादाद में छोटी बड़ी सभी वस्तुओं की दुकानें लगाई जाती हैं। राज्य सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा प्रदर्शनी स्टालों और चलचित्र प्रदर्शन के साथ ही साथ कृषकों के मनोरंजन एवं राष्ट्र प्रेम को जागृत करने के लिये भी नृत्यों और गीतों के आयोजन किये जाते हैं। मल्लीनाथ और रूपादे रानी के गीतों से मेले का कोना-कोना गुंजायमान रहता है।

☐

☐
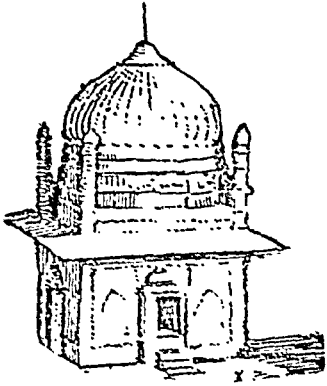
गलियाकोट

• श्री केदार शर्मा

गलियाकोट डूंगरपुर जिले में सागवाड़ा तहसील का एक छोटा सा गांव है जो माही नदी के किनारे बसा है। से १२ वीं शताब्दी में भीलों ने बसाया था। यह गांव चारों ओर से चार दीवारों से घिरा हुआ था जिसके जीर्ण-शीर्ण अंश इस बात के सबूत हैं कि कभी यह बड़ा किला रहा होगा। इसी गांव के उत्तर में लगभग ६ किलोमीटर की दूरी पर एक फकीर का मज़ार है जो शिया सम्प्रदाय के बोहरा मुसलमानों का बड़ा ही धार्मिक स्थान है। इसी स्थान पर फखरूद्दीन के नाशवान शरीर को दफनाया गया था। वहां मुसलमानों द्वारा उस महान सन्त की समाधी बनाई गई जो आगे चलकर फखरूद्दीन की मज़ार जिया दरगाह कहलाई।

मज़ार पर सन्तों व उनके भक्तों ने समय-समय पर काफी निर्माण कार्य कराया। मज़ार पर एक बड़ा ही सुन्दर गुम्बज ५२ फीट ऊँचा, २१ फीट चौड़ा संगमरमर का बनाया हुआ है। मज़ार सफेद मकराने की बनी हुई है। दीवार पर पच्चीकारी का मनमोहक काम है। गुम्बज का भीतरी भाग भी मोहक रंगों से व बेलबूटों से सजाया हुआ है। गुम्बज के अलावा चार मीनारें हैं। मज़ार को बाहर से देखने पर बिलकुल ताजमहल की तरह नजर आती है। मज़ार के चारों तरफ चार दरवाजे हैं और गुम्बज पर सोने का कलश लगा है जो भारतीय संस्कृति का परिचायक है। उसके ऊपर चांद तारा है जिसमें रोशनी होती है जो दूर दूर से देखी जा सकती है। सामने का सेहन (चौक) मकराने का बना है और चारों ओर लोहे की जाली लगी हुई है। बराबर में एक बड़ी ऊँची मीनार भी है जिसके अन्दर सीढ़ियां लगी हैं। मज़ार के ऊपर स्वर्ण

अक्षरों में कुरान की आयतें भीं लिखी हुई है। सामने दालान में चारों ओर बड़े महत्वपूर्ण मकानात बने हुए हैं। अन्दर जाने के दो मुख्य दरवाजें हैं। दरवाजे में जैसे ही प्रवेश करते हैं दांई ओर नूर मस्जिद है जिसमें वज़ू करने की उत्तम व्यवस्था है जो प्राय: अन्य मस्जिदों में नहीं मिलती। इसके अलावा महिलाओं को प्रार्थना में सम्मिलित होने की एक ओर अच्छी व्यवस्था है। महिलाओं के लिए अलग बालकॉनी बनाई गई है ताकि एक साथ स्त्री पुरुष प्रार्थना में अपनी श्रद्धान्जली दे सकें। यह प्रार्थना-हाल के पास ही है। दूसरी ओर एक विशाल हॉल है जिसमें धार्मिक यात्रियों को अन्य व्यवस्था न होने तक वहां ठहरना पड़ता है या उसको विश्रामगृह भी कहा जा सकता है। यात्रियों के पहुंचते ही एक समय का खाना वहां से नि:शुल्क मिलता है। यह व्यवस्था एक प्रबन्धक समिति करती है। यात्रियों को जाते ही दीवानखाने में अपना नाम लिखना पड़ता है। विश्रामगृह का एक हिस्सा आमील साहब जो बोहरों के धर्मगुरू होते हैं, उनके लिए सदा रुका रहता है। सामने मज़ार के बाहर कितनी ही संख्या में कब्रें हैं उसमें एक ओर दाउद भाई साहब की कब्र है जो फखरूद्दीन साहब के लड़के थे।

फखरूद्दीन राजा सिद्धराज जयसिंह (जिन्होंने गुजरात पर १०६४ से ११३४ ए० डी० तक राज्य किया था) के वजीर तारमल के लड़के थे। शिया सम्प्रदाय को बढ़ाने हेतु मिश्र से इमाम-मुस्तेन-सीर ने मोलाई अहमद साहब और मोलाई याकूब साहब को भेजा, उन्होंने अपने धर्म को बढ़ाया। उन्होंने फिर मोलाई अहमद, मोलाई अब्दुल्ला और मोलाई नूर मोहम्मद को यमन से हिजरी सं० ४५० से खम्भात में भेजा। अब्दुला साहब की काफी कीर्ति फैल गई। उन्होंने अपनी करामात से सूखे कुए को पानी से भर दिया, पत्थर के हाथियों को हाथ लगाते ही गिरा दिया। यह चमत्कार देखते ही लोग उनके धर्म को अपनाने लगे। ये लोग खम्भात से पाटन आये। पाटन गुजरात की राजधानी थी। राजा ने जब धर्म परिवर्तन का मामला देखा तो मौलाई अब्दुला को गिरफ्तार करने की सोची। अब्दुला ने खुदा से दुआ की और उनके चारों ओर आग की चार-दीवारी बन गई। यह चमत्कार देखकर राजा हैरान हो गया और उनका शिष्यत्व ग्रहण करने की प्रार्थना की। फिर पूरा ही राज्य-परिवार उनका शिष्य हो गया। तारमल और भारमल दोनों भाई भी इमाम-अल-मुस्तन-सीर के सम्प्रदाय में शामिल हो गये। भारमल के लड़के याकूब थे जिनको गुजरात में धर्म प्रसार का कार्य दिया गया और तारमल के फखरुद्दीन थे जिनको वागड़ प्रान्त (राजपूताना) के लिये भेजा। फखरुद्दीन जब छोटे थे तब से ही उनमें किसी महान सन्त जैसे लक्षण नजर आने लगे थे। वे खेल-कूद से अलग रहकर एकान्त में मनन किया करते थे। गरीबों की खिदमत करना, भूखों को खाना खिलाना, रोगियों को दवा देना उनका रोजमर्रे का काम था। बाद में उनको धर्म की पूरी तालीम दी गई जिसके अनुसार वे भी पहुंचवान फकीर हो गये। उनका स्वभाव धार्मिक तथा सन्यासी की तरह था। उन्होंने आत्मा की खोज के साथ लोगों को कई चमत्कार बताये। इसी कारण उन सन्त की मृत्यु-स्थल आगे चलकर गलियाकोट के नाम से दाउदी बोहरों का परमतीर्थ बन गया।

कहते हैं जब ये सागवाड़ा आ रहे थे उस समय चोरों ने हमला कर दिया। लड़ते-लड़ते इनके सारे साथी मारे गये सिर्फ यही बच रहे थे इतने में नमाज अदा करने का समय हो गया। जब ये नमाज पढ़ रहे थे तब पीछे से चोरों नें इन पर हमला कर दिया। उसी दिन से वह महान आत्मा इस संसार से विदा हो गये। मृत्यु के समय उनकी उम्र २७ वर्ष की थी। उस समय इनकी मृत्यु की खबर किसी को भी मालुम नहीं पड़ीं। कहा जाता है कि एक बैलगाड़ी वाला उधर से गुजर रहा था। जहां पर उनके शरीर को दफनाया गया था वहां पर गाड़ी का एक पहिया रह गया और गाड़ी एक पहिये से ही अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच गई। जब गाड़ी वाले ने देखा कि गाड़ी एक पहिये से ही कैसे आ गई तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह वापिस गया और एक स्थान पर पहिये को पड़ा पाया। उसको उठाया पर वह उठ न सका बाद में उसे ख्वाब में मालुम हुआ कि 'मैं लोगों की भलाई के लिये सागवाड़ा जा रहा था, उसने मुझे चोरों ने मारकर इस जगह दफनाया है। यहां मेरी कब्र बनादी जावे।' कब्र बनादी गई और लोगों की मुरादें पूरी होने लगीं तथा इस फक़ीर की प्रसिद्धि सब जगह फैल गई।

इस तरह से धार्मिक समुदाय का प्रवाह आत्मा की खोज तथा अपनी मुराद पूर्ती के लिए यहां आने लगा। जैसे ही मुराद पूरी होती यात्री फिर अपनी मनोत चढ़ाने वहां जाने लगे। तब से ही हज़ारों 'दाउदी बोहरा' समुदाय प्रतिवर्ष जियारत को आने लगे और उस महान फकीर के प्रति अपनी श्रद्धांजली अर्पित करने लगे। बाद में उसने उर्स का रूप ले लिया। गलियाकोट में उर्स मोहर्रम की २७ तारीख को मनाया जाता है जो मोहम्मद्दीय वर्ष का पहला महिना है। दाउदी बोहरा मिश्री कलेन्डर के अनुसार चलते हैं। इस कलेन्डर के अन्दर पहला माह ३० दिन का, दूसरा २९ दिन का व अन्य इसी तरह ३० तथा २९ दिन के होते हैं। दूसरे मुसलमान हिजरी कलेन्डर के अनुसार चलते हैं। उर्स मनाने की तैयारी मोहर्रम की २७ तारीख को ५ दिन पहले आरम्भ हो जाती है। साधारण तौर पर उर्स का समारोह मोजूदा धर्म गुरू दाइ-उल मुतलग के आदेशानुसार आरम्भ होता है। मोहर्रम की २० तारीख को सुबह मजार की सफाई होती है। मज़ार को चन्दन से मज़ावरों द्वारा धोया जाता है। मिन्नत मानने वाले उस पानी को ले जाते हैं और अपना अहोभाग्य समझते हैं। ऐसी धारणा और विश्वास है कि इस को पिलाने से दैहिक, देविक और भौतिक कष्ट दूर हो जाते हैं। बाद में सबसे पहले मजावर साहिबानों द्वारा सफेद चादर चढ़ाई जाती है। उसके बाद अपनी-अपनी श्रद्धा और हैसियत के अनुसार चादरें चढ़ाई जाती हैं। धनवान लोग जरी की चादरें भी चढ़ाते हैं। उर्स के समय लगभग १० से १२ हज़ार यात्री इकठ्ठे हो जाते हैं। उर्स में न केवल भारतीय होते हैं बल्कि लंका, थाईलैन्ड, इंग्लेण्ड, सिंगापुर, बर्मा, करांची तथा अफ्रीका से ज़ियारत करने गलियाक़ोट आना अपना सौभाग्य समझते हैं। उस रात को वहां काफी सजावट होती है। रोशनी होती है। गुम्बज को खुशबूदार फूलों से ढक दिया जाता है और सारे दिन प्रार्थना अदा की जाती रहती हैं। वहां का रात का खास प्रोग्राम है, मज़लिस। मजलिस में काफी भीड़ होती है, जिसमें आने वाले सारे

यात्रियों सन्तों, फकीरों द्वारा धार्मिक गीत, प्रार्थना तथा उनकी तारीफ और शोक मर्सिया पढ़े जाते हैं।

बाबा का इतना प्रभाव है कि लोगों की मुराद न केवल वहां जाने पर पूरी होती है बल्कि घर बैठे–बैठे भी यदि कोई मिन्नत करता है तो उसके सारे काम पूरे हो जाते हैं। यदि किसी का बालक बीमार हो जाता है तो बाबा की मिन्नत की जाती है कि यदि मेरा बच्चा ठीक हो गया तो मैं जियारत को आऊंगा और आपके यहां आकर मनोत चढाऊंगा। जब मुराद पूरी हो जाती है वहां पर बच्चों को अपनी श्रद्धानुसार नमक से, गुड़ से, मिश्री से और मेवा से तोला जाता है और वहां चढ़ाया जाता है। इसके अलावा उनके प्रति श्रद्धा अर्पित करने के लिये मजार के चारों ओर नारीयल और लड्डू की पाल बनाई जाती हैं। एक अन्य प्रकार से जिनकी मुराद पूरी हो गई है वे दूध दही के घड़े भर कर लाते हैं और कहते हैं कि आपकी कृपा से मेरा काम पूरा हो गया है और वे घड़े को वहां रख देते हैं। उन दूध–दही के घड़ों को वे लोग पी जाते हैं जिनकी मनोकामना अभी तक पूरी नहीं हुई है।

गलियाकोट के आराध्य के सम्बन्ध में एक किस्सा है कि हिजरी सम्वत् १३४० में उदयपुर के सेठ रसुलजी बल्लीजी के लड़के भाई साहब की मजार पर फल चढ़ाने के लिए आये। इसी समय उदयपुर के ही दो छोटे बच्चे मुहम्मद हुसैन और मेमुना नीचे बैठे हुए थे। सेठ ऊपर से फल लुटाकर जैसे ही नीचे उतर रहे थे मजार का एक खम्भा गिर गया। जिससे दोनों बच्चों को बड़ी चोट आई और सभी यात्रियों ने उन्हें मरणासन्न जान लिया। तभी एक बाबा वहां आये उन्होंने बच्चों का उपचार किया और यह कहकर चले गये कि जब तक मैं नहीं आऊं तब तक किसी की दवा मत करना। जब तीन दिन तक बाबा नहीं आये तो मां-बाप को चिन्ता हुई और उन्हें तलाश किया। चौथे दिन स्वयं ही बाबा वहां आये और उपचार किया। बच्चे थोड़े समय में ही ठीक हो गये। लोगों ने जब उनका नाम पूछा तो बताने से इन्कार कर दिया तथा गायब हो गए। इस वाकिये को याद रखकर आज भी हजारों भक्त श्रद्धा रखकर उनकी मनौती मानते हैं और लाभ उठाते हैं। कलकत्ता के रहने वाले नियामत अली प्रतिवर्ष कलकत्ता से गलियाकोट पैदल चल कर आते हैं। कहा जाता है कि उनके बच्चा नहीं था, धन की कोई कमी नहीं थी, बाबा की कृपा से उनके बच्चा हुआ और तब से ही प्रतिवर्ष पैदल आने का संकल्प उन्होंने लिया। इसी तरह अफ्रीका से भी कई यात्री पैदल चलकर प्रतिवर्ष जियारत करने गलियाकोट आते हैं।

गलियाकोट महत्वपूर्ण एकता का प्रतीक भी है। यहां न केवल बोहरे ही आते हैं बल्कि हिन्दुओं की भी मुरादें पूरी होती हैं और हिन्दू मुसलमान एक साथ उनको सम्मान अर्पित करते हैं। विशेषकर भील तो उन्हें तुरन्त आराम देने वाले देवताओं के रूप में मानते हैं। उन्हें किसी तरह की तकलीफ हो, कोई झंझट हो वे वहां जाते हैं और दालान में खड़े होकर एक कुलड़ी में पानी लेकर उसे चारों ओर फिराकर अपनी श्रद्धा अर्पित कर वापिस आ जाते हैं और वह पानी बीमार को पिलाते हैं तो दुखदर्द दूर हो जाता है। मुख्य बाजार तक सभी धर्म के लोग जाते हैं। इसके अलावा

हिन्दुओं में जैसे कई स्थानों पर भूत-प्रेत तथा भटकती हुई आत्माओं की छाया से छुटकारा दिलाया जाता है उसी प्रकार हिन्दू हो या मुसलमान या अन्य कोई कौम हो ऐसी आत्माओं से वहां जाते ही वह छुटकारा पा लेता है। उर्स के समय भी ऐसे भूत-प्रेत व आत्मा की छाया से दुखी कई स्त्री पुरुष गलियाकोट आकर छुटकारा पाते हैं साथ ही दरगाह से लगा हुआ शीतला माताजी का बड़ा भव्य मन्दिर है जिसके दर्शन के लिए लोग बड़ी दूर-दूर से आते हैं अतः यह हिन्दू मुसलमान के संगम तीर्थ के नाम से भी श्रद्धालु जगत में जाना जाता है।

गलियाकोट की यात्रा करने के लिए दिल्ली-बम्बई बड़ी रेलवे लाइन द्वारा दोहद उतरना पड़ता हैं और दोहद से बस द्वारा वहां जाया जा सकता है जो ९६ किलोमीटर दूर है। इसके अलावा रतलाम से भी बस द्वारा जाया जा सकता है परन्तु तब बस द्वारा १४४ किलोमीटर जाना पड़ेगा। इसके अलावा उदयपुर से भी डूंगरपुर होकर बस द्वारा रास्ता है। गलियाकोट उदयपुर से १६० किलोमीटर और डूंगरपुर से ४८ किलोमीटर दूर है। गलियाकोट बरसात में पहुंचना कठिन होता है क्योंकि पानी की अधिकता सेनीची रपटें और पुलिया होने के कारण बसें बन्द हो जाती हैं सिर्फ़ सागवाड़ा होकर जाया जा सकता है। उदयपुर से बस की यात्रा १०–११ घण्टे की होती है। वायुयान से आने वाले यात्री अहमदाबाद या उदयपुर उतर कर पहुँच सकते हैं।

दाउदी बोहरा सम्प्रदाय का विस्तार इस समय संसार के सभी क्षेत्रां में है इनकी। संख्या लगभग ५ लाख के आसपास होगी। इनका बाहुल्य एशिया और अफ्रीका के कितने ही हिस्सों में है। इनका मुख्य धन्धा व्यापार और उद्योग है। ।इनकी भाषा उर्दू मिश्रित गुजराती है। भारत में इनकी बसावट गुजरात, मध्यप्रदेश और राजस्थान में विशेष रूप से है। गलियाकोट आना प्रत्येक बोहरा अपना परम कर्तव्य मानता है। यहीं उनका परमधाम है ।गलियाकोट में जो चढ़ावा आता है उसका पूरा हिसाब रखा जाता है और उस कोष को मज़ार प्रबन्धक कमेटी तथा उर्स प्रबन्ध कमेटी द्वारा धार्मिक तथा सुधार कार्यों में खर्च किया जाता है।

इस तरह से गलियाकोट न केवल बोहरा मुसलमानों का धार्मिक केन्द्र हैं बल्कि ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान है। गलियाकोट एक ओर कट्टर आस्तिकता की शिक्षा देता है वहां ससार को सुखी और समृद्ध बनाने की दुआ करता है। गलियाकोट में फखरूद्दीन की मज़ार और शीतलामाता का मन्दिर संगमराज प्रयाग है जो हिन्दू-मुस्लिम वर्ग को अपनी अमृतधारा से सिंचित कर एकता को निखारता है।

□ □

श्रीमहावीरजी

• श्री राजेश कुमार
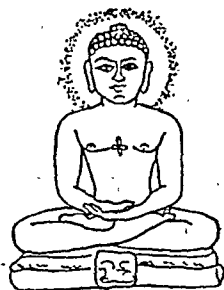
देश के विभिन्न भागों में यों तो जैन धर्मावलम्बियां के अगणित तीर्थस्थल हैं, लेकिन आधुनिक युग के अनुकूल जो महत्ता श्रीमहावीरजी स्थित तीर्थ-स्थान की है वह अपने आप में अनूठी तथा मानवीय समता का संदेश देने वाली है।

इस स्थान को तीर्थ कहा जाता है, जो किसी विशेषता से कम नहीं। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार तीर्थ उसी स्थान को माना जाता है जहां तीर्थंकर का जन्म, तप या निर्वाण हुआ हो। श्रीमहावीरजी में ऐसा कुछ नहीं हुआ, लेकिन उसकी महत्ता कम नहीं है।

राजस्थान के सवाई माधोपुर जिले में पश्चिम रेल्वे की गंगापुर तथा बयाना रेललाइन के मध्य श्रीमहावीरजी स्टेशन है। आने-जाने का मार्ग सुविधाजनक है और प्रति वर्ष महावीर जयन्ती के अवसर पर जब यहां 'लक्खी मेला' भरता है तब विशेष व्यवस्था की जाती है।

श्रीमहावीरजी स्थान का नाम लगभग चार सौ वर्ष पहले चांदन था। बाद में जब भगवान महावीर की प्रतिमा प्राप्त हुई तो इसका नामकरण भी श्रीमहावीरजी हो गया। आज इस स्थान को चांदन ग्राम के नाम से कोई नहीं जानता। वह नाम इतिहास के पृष्ठों में सिमट कर रह गया है। श्रीमहावीरजी के नाम से ही यह स्थान विख्यात है।

यद्यपि इस स्थान के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तौर पर परिपूर्ण जानकारी विस्तार से उपलब्ध नहीं है, लेकिन जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर यह कहा जा

सकता है कि सोलहवीं शताब्दी में वह प्रतिमा एक टीले से प्राप्त हुई थी जो आज जन-जन की निष्ठा और आकर्षण का केन्द्र है।

कहते हैं एक चर्मकार की गाय नित्य इस टीले पर चरने के लिए जाया करती थी। वह दिन भर वहां चरती लेकिन संध्या के समय जब वापस लौटती तब उसके थनों में दूध नहीं मिलता था।

चर्मकार को सन्देह हुआ। उसने विचार किया कि सम्भवतः कोई चोर गाय के थन में से दूध निकाल लेता है। तलाश के लिए एक दिन वह गाय के पीछे-पीछे निकल गया। लेकिन यह देखकर वह आश्चर्य में डूब गया कि एक विशिष्ट स्थान पर गाय जा कर ठहर जाती है और उसके थन से स्वतः ही दूध झरने लगता है।

तत्काल उस स्थान की खुदाई की गई और वहां भगवान महावीर की लाल पाषाण की मनोहर प्रतिमा मिली। इस घटना का समाचार तुरन्त फैल गया।

दर्शनाभिलाषी अनेक व्यक्ति वहाँ पहुंचे जिनमें जैन धर्म के अनुयायी भी थे। उन्होंने इस प्रतिमा को अपने यहां ले जाना चाहा। लेकिन एक चमत्कार के बाद दूसरा चमत्कार हुआ। किंवदन्ती के अनुसार प्रतिमा अपने स्थान से टस से मस नहीं हुई। आखिरकार उसी टीले पर एक चबूतरा बना कर प्रतिमा स्थापित कर दी गई।

बाद में एक जैन श्रावक अमरचन्द बिलाला ने वर्तमान मन्दिर का निर्माण कराया और वेदी प्रतिष्ठा के समारोहिक आयोजन के साथ प्रतिमा को प्रतिष्ठित कर दिया गया।

यह सब हो चुका लेकिन उस व्यक्ति की यादगार अभी तक कायम है, जिसकी सूचना पर प्रतिमा का पता चला था। जिस चर्मकार ने सूचना दी थी उसके वंशजों को आज भी रथ के पहिये को छूने का अथवा समारोह के आयोजन का एक प्रकार से श्रीगणेश करने का गौरव प्राप्त है। प्रति वर्ष मेलों के अवसर पर जब रथ-यात्रा का शुभारम्भ होता है तब उस समय तक रथ को आगे नहीं बढाया जा सकता है जब तक कि चर्मकार उसे छू न ले। परम्परा का यह एक अनिवार्य भाग है।

मन्दिर मुगल तथा हिन्दू स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है। मन्दिर के सामने के हिस्से में स्तूपाकार छतरियां हैं और पार्श्व भाग में ५० फीट ऊंचे तीन शिखर हैं। शिखर पर स्वर्ण कलश हैं। मन्दिर के आन्तरिक भाग में स्वर्ण तेलचित्र हैं। बाएं भाग में भित्ति-चित्र हैं। मन्दिर करौली के पत्थर से निर्मित हुआ है। लेकिन आगे का भाग अब संगमरमर का बनवा दिया गया है।

प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण गम्भीर नदी के तट पर अवस्थित यह विशाल मन्दिर न केवल जैन अपितु अ-जैन नर-नारियों के लिए भी आस्था का केन्द्र है। आस-पास

तथा दूर-दूर से जैन धर्मावलम्वी एवम् अन्य समुदाय के व्यक्ति यहाँ दर्शनों के लिए आते हैं शीश नवाते हैं और मनोवाञ्छित फल की याचना करते हैं।

मेला प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ला तेरस से वैशाख कृष्णा प्रतिपदा तक भरता है। मेले में मीणा, गूजर तथा अहीर आदि जातियों के नर-नारी भी आते हैं। परम्परागत वाद्य-यंत्रों के साथ नाचते गाते उल्लसित एवम् आल्हादित नर-नारियों की जव लोक-लहरी गूंजती है तो वह हृदय को छू लेती है। सीधे-सादे शब्दों के इन लोकगीतों में लगता है कि विश्व का सम्पूर्ण दर्शन एवम् आध्यात्मिकता समा गई है।

मेला चार दिन तक चलता है और समारोह का श्रीगणेश ध्वजारोहण के साथ होता है। प्रतिदिन भजन पूजन तथा अन्य सांस्कृतिक कार्य भी आयोजित किये जाते हैं। संध्या के समय मन्दिर का दृश्य 'दीपमालिका' जैसा लगता है। वैशाख कृष्ण प्रतिपदा को रथ-यात्रा तथा कलशाभिषेक के साथ इस कार्यक्रम का समापन होता है।

जैन धर्म के चौवीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने २५८७ वर्ष पूर्व 'स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो' का जो महान सन्देश दिया था वह इस तीर्थ स्थल में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भगवान महावीर ने जन साधारण को अहिंसक तथा सहिष्णु वन कर स्वयं के विकास का सन्देश दिया था। सर्व-धर्म-समभाव, सह-अस्तित्व तथा अहिंसा के उनके आदर्श एवम् प्रेरणादायक संदेशों की महत्ता को राष्ट्र आज भी स्वीकार करता है।

□ □
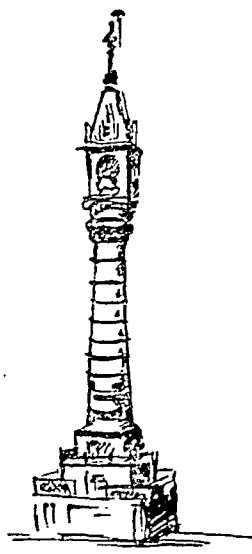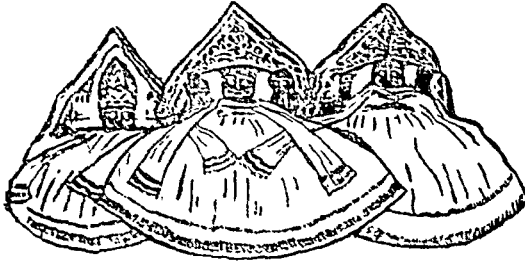
कोलायतजी

• श्री श्रीलाल नथमल जोशी

श्रीमद्भगवद् गीता के दसवें अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में अर्जुन को अपनी विभूति का परिचय कराते हुए भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—सिद्धानां कपिलो मुनिः।

अर्थात् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। वास्तव में भगवान कपिल श्रीकृष्ण अथवा विष्णु के पुरातन अवतार थे जिन्होंने दृष्टिपात मात्र से कुमार्गगामी सगर-पुत्रों को भस्म कर दिया था। महाभारत के उद्योग पर्व (१०६/१७–१८) में उल्लेख है कि श्री कपिलजी प्रजापति कर्दम के पुत्र थे तथा इन्होंने माता देवहूति की कोख से अवतार धारण किया था। कपिलजी का एक और भी नाम है जिससे वहुत ही कम लोग परिचित हैं, वह है—चक्रधनु।

महाभारत में प्रसग आता है कि एक बार राजा नहुष ने अपने घर आए हुए अतिथि त्वष्टा के लिए एक गाय का आलंभन करने का निश्चय किया जिसे कि वे वेद समान मानते थे। जब कपिलजी को इसका पता चला कि वेद के नाम पर गो-वध की तैयारी हो रही है, तो उनके मुख से इतना ही निकला—'हा वेद!' अभिप्राय यह है कि वेदों का गलत अर्थ लगाकर लोग मनमाना अनाचरण करते हैं।

जब पितामह भीष्म शर-शय्या पर लेटे हुए थे तो नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि अनेक ऋषि मुनि उनके पास बैठे हुए थे। इन विशिष्ट व्यक्तित्वों में कपिल मुनि का उल्लेख भी हुआ है। इसके अतिरिक्त सात धरणीधर ऋषियों में भी कपिलजी का नाम आया है।

उपर्युक्त चर्चा से इतना स्पष्ट हो गया कि भारतीय धर्मग्रंथों में कपिलजी का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है जिसकी ऊंचाई को दूसरा कठिनता से ही छू सकता है।

अब हम उस धरती की चर्चा करेंगे जिसका कपिल मुनिजी ने न केवल स्पर्श ही किया बल्कि जहां उन्होंने अनेक वर्षों तक आसन लगाकर घोर कठिन तपस्या की, और उसी का प्रताप है कि आज अगणित वर्षों के उपरान्त भी उस धरती में श्रद्धालु जनों के लिए चुम्बक शक्ति है जिसके फलस्वरूप प्रति वर्ष वहां कार्तिक की पूर्णिमा को विशाल मेला लगता है तथा प्रमुख पर्वों पर वहां भक्तजन दर्शन-भजन के लिए पहुँच कर अपना जीवन सफल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इस धरती का नाम है 'कपिलायतन', जिसे साधारणतया लोग 'कोलायतजी' के नाम से जानते हैं।

श्री रामचरितमानस में गोस्वाजी ने कहा है कि श्रीराम से भी बढ़कर राम-नाम का महत्व है। रामावतार हमारे सम्मुख न रहने पर भी राम-नाम रूपी नौका के सहारे लोग सहज ही भवसागर से तर जाते हैं। इसी प्रकार कहा जा सकता है कि श्री कपिल मुनि ने तो अगणित वर्ष पूर्व यहां तपस्या की और वे चले गये, पर उनकी पावन तपोभूमि अद्यावधि पाप-पुंजों को क्षार करने की क्षमता रखती है और अनिश्चित काल तक इसी प्रकार श्रद्धालुओं को तापत्रय से मुक्त करती रहेगी।

श्रीमद्‌भागवत के अन्तर्गत स्कन्द पुराण में कपिलायतन अथवा कोलायतजी के महात्म्य का विपद वर्णन है। अगस्त्यजी की जिज्ञासा पर पार्वतीनन्दन स्कन्दजी ने कपिलायतन की महिमा बताई जो पहले अज्ञातप्राय: थी।

अन्य तीर्थों का महत्व तो यह है कि उनके दर्शन से पापों का नाश होता है पर श्रीकोलायतजी इस विषय में अद्वितीय हैं—इस तीर्थ के दर्शन की इच्छामात्र से ही पापों का नाश हो जाता है और इसकी परिधि में केवल प्राणी ही प्रविष्ट हो सकते हैं।

कर्नल जेम्स टॉड ने राजस्थान के इतिहास में श्रीकोलायतजी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कार्तिक पूर्णिमा को यहां मेला लगने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथा दूर-दूर से पैदल, ऊंटों, घोड़ों व बैलगाड़ियों पर सवार होकर असंख्य यात्री यहां दर्शनार्थ आते हैं। यह भी लिखा है कि प्राचीन काल में यात्रियों की भीड़ और भी अधिक रहती थी।

बीकानेर के स्वर्गीय महाराजा गंगासिंहजी ने इस तीर्थ के महत्व की ओर समुचित ध्यान देते हुए बीकानेर-कोलायत के बीच रेल-मार्ग की आवश्यकता का अनुभव किया था। अत: आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व सन् १६२१ में रेलमार्ग का कार्य पूरा हो गया। कपिलदेवजी के मंदिर में संगमरमर जड़ा कर उसका कायाकल्प किया। इसके अतिरिक्त जलाशय, जो बिना घाटों के पोखर- वत् पड़ा हुआ था, उसके चारों ओर पक्के घाट बनवाये तथा शिव-गणेश-सूर्यादि पंच-मंदिरों का निर्माण करवाया। सेठ मदनगोपाल दम्माणी, राजा बिसेसरदास डागा आदि ने भी यहां मंदिर बनवाये तथा अन्य लोगों ने भी

मंदिर व धर्मशालाओं का निर्माण करवाया। अनेक समाजों की पंचायतों की ओर से भी धर्मशालाएं बनी हुई हैं। श्री बनीनाथगिरीजी के पंच मंदिर (बीकानेर) की ओर से भी यहां विशाल भवन बना हुआ है।

बीकानेर से यह स्थान लगभग ४८ किलोमीटर दूर पड़ता है। रेलों के साथ बसों की भी नियमित सेवा इस मार्ग पर चालू है।

पहले यहाँ जलाशय में कांटों के बड़े-बड़े जाल थे जिनमें कभी-कभी तैराक अटक जाते थे और फिर मुक्त होना उनके लिए दुष्कर होता था। अब जाल भी साफ करवा दिए गए हैं। जलाशय में बहुत दूर-दूर का पानी आता है, इसलिए कहीं आसपास या दूर (आघोर में) वर्षा होने पर जल्दी ही इसमें पानी पहुँच जाता है। पूरा भरने पर प्रायः तीन साल तक पानी नहीं सूखता। वृक्षों, मंदिरों एवं भवनों से घिरे हुए इस जलाशय की शोभा निराली है।

श्रीकोलायत-स्नान को लोक-जीवन में गगा-स्नान के बराबर महत्व प्राप्त है। इसलिए स्त्री-समूह यहां स्नानार्थ जाते हुए गंगाजी की जय बोलते हैं तथा गंगाजी के गीत गाते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेक लोक-गीत श्री कोलायत के मेला पर्व पर गाये जाते हैं। चतुर्दशी को दीपमाल का उत्सव मनाया जाता है। सारी अट्टालिकाएं दीपकों से जगमगाने लगती हैं और उनकी परछाई निर्मल जल में प्रतिबिम्बित होकर अनुपम शोभा पाती है। रात में जागरण होता है—कहीं रामघमंडी, कहीं शास्त्रीय, कहीं हल्के-फुल्के गाने और कहीं वाणियां चलती हैं और फटाफट रात बीत जाती है।

यहां यह बताना समीचीन होगा कि कपिलजी का आगमन इस धरा पर कैसे हुआ। स्कन्द पुराण में उल्लेख है कि अपनी माता देवहूति को अध्यात्म-विद्या का उपदेश करने के पश्चात सांख्य-दर्शन के आचार्य श्री कपिल मुनि काम-क्रोधादि षड्रिपुओं से मुक्त, भ्रमणार्थ उत्तर दिशा को जब चले, तो इस बालुकामय धरती को भी वृक्ष-लताओं से आच्छादित एवं पक्षियों से कुंजित तथा यहां हरिणों के सुन्दर झुंड देखकर आकर्षित हुए और इसी धरा को उन्होंने अपनी तपस्या के लिए उपयुक्त समझा। यह सही है कि बाद में वे पूर्व दिशा को भी गए, परन्तु उनकी प्रारम्भिक साधना-स्थली तो श्री कोलायत ही है, इसमें संदेह नहीं।

स्कन्द पुराण में श्री कपिलायतन का महात्म्य विस्तारपूर्वक दिया है। उसका एक अंश यहां प्रस्तुत है—जब सूर्य मकर राशि पर थे तो तीर्थराज प्रयाग में उच्चकोटि के साधु-ब्राह्मणों का समाज जुड़ा जिसमें ऋषि महर्षि भी थे। उसी समाज में छः मुनि कन्याएं भी आई जो नारदजी के वीणावादन एवं सौंदर्य के कारण योग-मार्ग की निन्दा तथा विषय-भोग की प्रशंसा करने लगीं। योगमार्ग से भ्रष्ट इन कन्याओं की आत्मा का विष्णु भगवान की माया ने हरण कर लिया तथा काम-वासना से विद्ध होकर सबकी सब

मर गइ। चूं कि सब आपस में प्रेमपूर्वक रहती थीं और योग-भ्रष्ट होकर उन्होंने शरीर त्याग किया था, अतः छओं कन्याओं का जन्म इसी कपिलायतन क्षेत्र में कुलीन ब्राह्मणों के घर हुआ। दिन भर परिश्रम के पश्चात् ये कन्याएं सायंकाल कुछ फलादि लेकर कपिल सरोवर पर आतीं, यहीं स्नान करके श्रम हरतीं व फल पातीं तथा जूठन वहीं छोड़ जातीं। कपिल सरोवर में स्नान के कारण उन्हें पूर्व जन्म की स्मृति हुई और ध्यान आया कि किस प्रकार वे योगभ्रष्ट हुई थीं। मृत्यु के पश्चात् वे स्वर्गलोक में गयीं। वहां का सुख भोगने के वाद, अपनी लालसा के कारण उन्होंने पुनः ऋषि-मुनियों के घर जन्म लिया व योग साधना की। कपिल सरोवर पर जूठन छोड़ने के पाप के कारण वे सब अपने पतियों से परित्यक्त हो गई, परन्तु तीर्थराज में स्नान का जो विपुल पुण्य उन्होंने अर्जित किया था, उसके फलस्वरूप वे महायोगिनियां आकाश में कीत्तिका इत्यादि छः तारे वन गई जो आज भी प्रकाशपुंज के रूप में हमें प्रकाशित कर रहे हैं।

□

□

मुकाम

• डा० हीरालाल माहेश्वरी

मुकाम, विष्णोई सम्प्रदाय का एक प्रमुख और पवित्र तीर्थ-स्थान माना जाता है। इसका कारण यह है कि यहां इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जाम्भोजी महाराज का समाधि-मन्दिर है। साल में यहां दो मेले लगते हैं। पहला, फागुन वदि अमावस्या को और दूसरा आसोज बदि अमावस्या को। आसोज वाले मेले को इस सम्प्रदाय के महान् कवि और साधु वील्होजी (संवत् १५८९–१६७३) ने आरम्भ किया था। इस सम्वन्ध में इनके प्रिय शिष्य और सुप्रसिद्ध कवि सुरजनदासजी पूनिया (संवत् १६४०–१७४८) ने इन पर लिखे एक मरसिये में यह उल्लेख किया है:—

तीरथ जांभोळाव चैत चौठिये मिलायौ।
मेळो मंड्यो मुकाम, लोक आसोजी आयो॥

फागुन के मेले पर देश के सभी भागों से वहुत वड़ी संख्या में 'जातरी' एकत्र होते हैं। संख्या की दृष्टि से इतने अधिक विष्णोई 'जातरी' राजस्थान में मान्य किसी भी प्राचीन मन्दिर या 'साथरी' पर एकत्र नहीं होते। इस विषय में दूसरा स्थान 'जाम्भोळाव' (फलौदी) का है। जाम्भोजी के प्रति श्रद्धा-भाव निवेदन और उनके उपदेशों को पुनः स्मरण करने के अतिरिक्त अनेक सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य कई सम-सामयिक वातों के विचार-विनिमय और निर्णय-निष्कर्ष हेतु विष्णोई जन यहां एकत्र होते हैं। किन्तु मेले का प्रमुख कारण धार्मिक-सांस्कृतिक है। राजस्थान के अन्य अनेक धार्मिक-स्थलों की भांति मुकाम भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह वीकानेर के नोखा स्थान से लगभग १८ किलोमीटर की दूरी पर पक्की सड़क के पास स्थित है।

जाम्भोजी का जन्म संवत् १५०८ में पीपासर (नागौर) नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता लोहटजी पँवार अत्यन्त सम्पन्न किसान थे और माता हाँसा (अपर नाम केसर) छापर के मोहकर्मसिंह भाटी की बेटी थी। जाम्भोजी आजन्म ब्रह्मचारी रहे। संवत् १५४२ में मरुप्रदेश में भयंकर अकाल पड़ा। इसमें जाम्भोजी ने हर प्रकार से लोक-सेवा की और इसी संवत् में पीपासर से कुछ दूर स्थित सम्भराथल नामक रेत के बड़े और ऊंचे टीले (धोरे) पर उन्होंने विष्णोई सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया। सभी वर्णों, वर्गों और पेशों के लोग सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। जाम्भोजी का भ्रमण अत्यन्त व्यापक था। देश-विदेश में उन्होंने ज्ञानोपदेश किया था किन्तु उनका कार्य-क्षेत्र विशेष रूप से राजस्थान रहा था। उत्तर प्रदेश के दो प्राचीन स्थानों—लोदीपुर और नगीना के अतिरिक्त शेष सभी प्राचीन स्थान और 'साथरी' राजस्थान में ही हैं। जाम्भोजी ने भ्रमण करते हुए अपने साथ के व्यक्तियों सहित जिन विशेष-विशेष स्थानों पर कई दिन तक ठहरकर ज्ञानोपदेश किया था, वे 'साथरी' कहलाए। सम्प्रदाय के प्राचीन मान्य स्थानों में पीपासर, संभराथल, लोहावट, जांगलू (गांव और साथरी), रोटू, जाम्भोलाव, रिणसीसर, भीयाँसर, गुढ़ा, रुड़कली, रामड़ावास (गांव और 'नाडी'), पुर, दरीवा, समेला, लोदीपुर, नगीना, लालासर और मुकाम की विशेष गणना है।

जाम्भोजी का वैकुण्ठवास संवत् १५९३ के मार्गशीर्ष वदि नवमी को हुआ था और इसके तीसरे दिन—एकादशी को तालवा गांव के निकट उनको समाधि दी गई थी। जाम्भोजी का अन्तिम ऐहिक मुकाम होने से उनका समाधि-स्थान 'मुकाम' नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्प्रदाय के कवियों ने तालवा और मुकाम में कोई भेद न कर, दोनों को एक ही समझा है तथा अनेक प्रसंगों में इसका विविध रूप से उल्लेख-वर्णन किया है।

आलमजी (संवत् १५३०–१६१०) नामक कवि ने जाम्भोजी के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करते हुए कहा है—

संभरथलि रलिआवणो, तूं ही मुकाम तलाव।
भगतां सरसौ भाव करि, देवजी दया करि आव॥
तीरथ मोटो तालवो, जे करि जाँणै कोय।
जिणि पहराजा उधर्यो, साचो सतगुर सोय॥

वील्होजी इस सम्प्रदाय में वहुत ही प्रतिष्ठित और मान्य साधु, कवि हुए हैं। रामड़ावास में वैकुण्ठवास के समय उन्होंने अत्यन्त मर्मभेदी वाणी में 'उमाहो' नामक गेय 'साखी' में हृदय के उमड़ते हुए अनेक भावों की अभिव्यक्ति की है। 'मुकाम' के मन्दिर पर ही वे विष्णोई सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। अन्तकाल में वे 'उमाहो' में इसको तथा इसके छज्जों पर के कबूतरों तक को भी नहीं भूले—

धन्य परेवा वापड़ा, छाजै वसै मुकाम।
चूंणि चुगै गुटका करै, सदा चितारै स्यांम॥

केसौजी (संवत् १६३०–१७३६) ने तो एक पूरी 'साखी' ही 'मुकाम-महातम' नाम की लिखी है। उनके अनुसार, मुकाम की महिमा इस कारण है कि यहां सबसे वड़े देव जाम्भोजी की देह समाधिस्थ है। एक छन्द यह है—

कली विराजै काँगरा, सोभा मुकट वखांणियै।
रूंखावलि रलीआवंणी, सांम सही सति जांणियै।।
जांणियै जां सांम सतगुर, पात जंण जां पेखणां।
इंडोत मुकटि मुकाम सोहै, देव दरगै देखणां।।
कलस सिरि त्रिसूल सोहै, भांत हरि मेली मिली।
देखि सोभा कहै केसौ, कांगरां सोहै कली।।

सुरजनदासजी (१६४०–१७४८) ने जाम्भोजी का महिमा-गान करते हुए मुकाम का भी प्रासंगिक रूप से नामोल्लेख किया है—

कलिमां केवलग्यांन परगट, दत देवल दीन मुकाम उठायो।
तिनकी महमां कुछ पार नहीं, निसताह हुवै दिस सीस नुवायो।
जागि रे जागि अभागिन भूलिस, भाग वड़ो सचड़ो पंथ पायो।
सुरजनदास विचारि कहै, गुर ग्यांन जको मेरै मंनि भायो।।

परमानन्ददासजी (संवत् १७५०–१८४५) ने जाम्भोजी को माननेवाले और उनसे प्रभावित होने वाले अनेक तत्कालीन नरेशों का उल्लेख करते हुए 'मोटे धाम मुकाम' को इस प्रकार स्मरण करते हैं--

जोधो, बीको, लूंण जैतसी, त्रीकम प्रगट तांम।
थापन अकर थरपिया, मोटो धाम मुकाम।।

विष्णोई समाज में 'धूप-मंत्रों' में 'विवरस'—पाठ की वड़ी प्रसद्धि है। उसमें 'मुकाम तालवे' का उल्लेख इसकी महत्ता स्पष्ट रूप से प्रकट करता है—

जंबू दीपे भरथ खंडे, थान मुकाम
ओह निज तीरथ तालवो, विवरस एह विचारणी।

दोनों मेलों में एक-दो दिन पहले ही यात्री आ जाते हैं। फागुन वदि (और आसोज वदि १४ को भी) चौदस को मन्दिर पर रात्रि-जागरण किया जाता है। जागरण में जाम्भाणी साखियां तथा हरजस गाए जाते हैं। साखियों में भी 'जम्भे की साखियाँ' सबसे पहले गाने का प्रचलन रहा है। वर्तमान में इनके अतिरिक्त अन्य साखियां भी गाई जाती हैं। विष्णोई कवियों का 'साखी' साहित्य विशेष महत्त्व का है। इसी प्रकार हरजसों में पुराने प्रतिष्ठित कवियों के 'हरजस' गाए जाते हैं। गाने वालों में विष्णोई-साधु तथा 'गायणे' होते हैं।

दूसरे दिन (अर्थात् अमावस्या को) सूर्योदय से पूर्व ही नहा-धोकर मुकाम-पर सामूहिक रूप से हवन किया जाता है। प्रत्येक जातरी इसमें सुविधानुसार भाग लेता है। इसी दिन सुवह ही सव जातरी यहां से दो कोस दूर स्थित संभराथल पर अवश्यमेव जाते हैं। वहां नीचे से मिट्टी लाकर 'धोरे' के ऊपर डालते तथा साधुओं द्वारा किए जा रहे

हवन में भी भाग लेते हैं। हवन करते समय जम्भवाणी (सब्दवाणी) का एक विशेष लय और उच्च स्वर से पाठ किया जाता है। स्मरणीय है कि इस अवसर पर जम्भवाणी को गाया न जाकर पाठ ही किया जाता हैं। स्त्री-पुरुष और बच्चे सभी इसमें भाग लेते हैं।

मुकाम में जातरियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएं बनी हुई हैं तथा कुएँ से उनके लिए निरन्तर पानी निकाले जाने का प्रबन्ध रहता है। हवन-सामग्री आदि क्रय-विक्रय के लिए छोटी-छोटी दुकानें भी लगती हैं। मन्दिर का दृश्य अत्यन्त मोहक और चित्ताकर्षक है।

सभी लोग निज-मन्दिर में समाधि के दर्शन करते और 'चढ़ावा' चढ़ाते हैं। पश्चात् वे मन्दिर की 'फेरी' भी अनिवार्यतः करते हैं। 'फेरी' के समय स्त्रियां सामूहिक रूप से अनेक श्रद्धाभाव भरे लोकगीत गाती हैं। ये लोकगीत विष्णोई समाज में ही प्रचलित हैं। 'मिन्दर' नामक लोकगीत का एक अंश नीचे दिया जाता है जिसमें मुकाम-मन्दिर का अनेक सन्दर्भों में सुन्दर वर्णन है—

आछो मिंदर जम्भेश्वरजी महाराज का।
ओला रे दोला जाल् खेजड़ां बीच मैं बणी बडसाल्।
आछो चिणायो चौक जाम्भैजी रो।
मकराणै सूं रामा भाटो रे मंगाय, चौक हजारी चिणाव।
नारेलां री रामा नीवी रे देराव, खोपरियां का आलि़या रखाय।। चौक हजारी०।।
खारकियां री रामा खूंटी रे ठैराय, जल्वी री जाली़ रे कराय।
मिंदर आछो लागै महाराज जाम्भैजी रो।
देस देस रा आवै रे मानवी, लुल् लुल् लागै पाय।। देवल आछो लागै।।

मेलों के अवसर पर वस्तुतः मुकाम की छटा देखते ही बनती है।
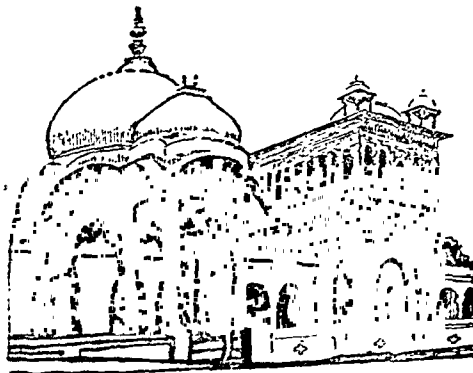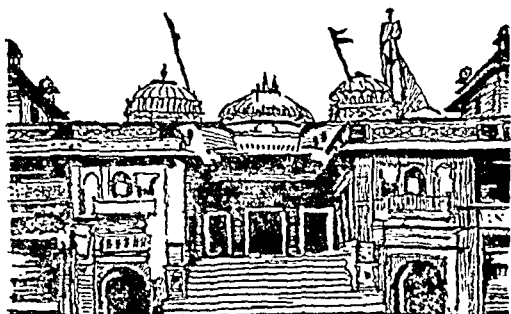
कैलादेवी

• श्री बृजेश कुलश्रेष्ठ

काफी प्रयत्नों के बावजूद भी अकबर दौलताबाद पर अधिकार नहीं कर सका था। हर बार का आक्रमण असफल रहता था। अकबर निराश हो चुका था। ज्योतिषियों की भी राय ली गयी, काफी चिन्तन हुआ। उन्होंने सम्मति दी कि दक्षिण विजय बिना यदुवंशी राजपूतों की सहायता के नहीं हो सकती।

चम्बल के दक्षिण की ओर उरगिर पहाड़ पर यदुवंशी राजा चन्द्रसैन राज्य करता था। अकबर स्वयं वहां जा पहुँचा। चन्द्रसैन ने शानदार आदर सम्मान किया। जब अकबर ने अपनी योजना राजा के सामने रखी तो वह सहायता के लिये सहर्ष तैयार हो गया। अपने पुत्र गोपालदास को यदुवंशी सेना सहित अकबर को सौंप दिया।

गोपालदास को चलते चलते रात हो गयी। सेना ने घने जंगल में एक तालाब के किनारे पड़ाव डाल दिया। युवराज लेटे-लेटे युद्ध की योजना बना रहे थे कि उन्हे शंख, नगाड़े आदि की ध्वनि सुनाई दी। लोग जोर-जोर से भजन गा रहे थे। युवराज उस ओर चल दिये।

कुछ ग्रामीण लोग, देवी की प्रतिमा के सामने जोर-जोर से भजन गा रहे थे। मुख्य पुजारी थे केदागिरी गोस्वामी। भजन समाप्त हुआ, लोग अपने अपने मनोरथ सफल होने की भीख मांगने लगे। युवराज ने भी मनौती मांग ली—केवल दक्षिण विजय की।

देवी ने वास्तव में युवराज की प्रार्थना को स्वीकार किया। यदुवंशी सेना जब दौलतावाद से लौटी तो उसके हाथ में विजय पताका फहरा रही थी। अकबर बेहद खुश हुआ और युवराज गोपालसिंह को सिर्फ पंच हजारी मनसबदार का ही खिताब नहीं बख्शा बल्कि चम्बल का कई किलोमीटर क्षेत्र भी बख्श दिया।

अब तक तो केवल थोड़े से ग्रामीण ही विश्वास करते थे कि देवी चमत्कारी है। अब युवराज भी करने लगे और उस दिन से आज तक, कैलादेवी को, करौली नरेश अपनी कुल-देवी के रूप में पूजते चले आये हैं। जिस देवी-देवता को राजा पूजने लगता था, प्रजा की भी श्रद्धा उसी देवी देवता में हो जाती थी। इसमें प्रजा गौरव का अनुभव करती थी। अतः कैलादेवी की प्रसिद्धि दिन पर दिन बढ़ने लगी। दूर-दूर के लोग दर्शन करने आने लगे।

लगभग दो सौ वर्ष के बाद, सं० १७८५ में, देवी ने करौली नरेश को पुनः चमत्कार दिखलाया। उस समय महाराजा गोपालसिंह राज्य करते थे। चम्बल के पार उनके विरुद्ध विद्रोह खड़ा हो गया था। उसे दबाने के लिये स्वयं राजा को जाना पड़ा। वे देवी के सामने जा खड़े हुये, बोले 'मां, तू हमारे कुल की विजयश्री है, रण-क्षेत्र में मेरे साथ रहना।'

जब महाराजा गोपालसिंह लौटे तो विजय का डंका बजाते हुये लौटे। युद्ध से लौट कर उन्होंने देवी के नये भवन की नींव डाली। यात्रियों की सुविधा के लिये धर्म शालाओं का निर्माण कराया। तभी करौली के प्रत्येक नरेश मंदिर एवं आस पास के क्षेत्र को सजाते-संवारते आये हैं।

लोग इतनी संख्या में आने लगे कि धीरे धीरे मेले का रूप ले लिया। सं० १९४३ के होते होते तो भरतपुर, आगरा, जयपुर, ग्वालियर आदि स्थानों से भी लोग आने लगे। चैत्र कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी प्रारम्भ भी नहीं हो पाती कि त्रिकूट पर्वत की घाटी, जहां कैलादेवी का भव्य मंदिर है, हजारों लाखों भक्तों के कंठ स्वरों से गूंज उठती है। नर-नारी, बालक, युवक, और वृद्ध आत्म-विभोर हो नाच-नाच उठते हैं। मंद और धीमी-धीमी लय के साथ गाये जाने वाले गीत, जयघोष के साथ तीव्र लय एवं तारसप्तक के स्वरों से गाये जाने लगते हैं।

देवी की प्रतिमा कब बनी और किसने बनवाई कोई एक निश्चित मत नहीं है। किंवदंतियां अनेक हैं। यदुवंशी होने के कारण करौली राजवंश का सम्बन्ध भगवान श्री कृष्ण से जोड़ा जाता है। बात तब की है जब कंस ने वसुदेव और देवकी को कारागृह में डाल दिया था। वहीं देवकी ने एक कन्या को जन्म दिया था। कंस ने जब उस नवजात कन्या को मार डालना चाहा तो वह आकाश की ओर उड़ गयी। यह योग-माया जब भू-मंडल पर अवतरित हुई तो भिन्न-भिन्न नामों से पूजी जाने लगी। यही योग-माया करौली त्रिकूट पर्वत पर कैलादेवी के नाम से प्रसिद्ध हुई। शायद यही कारण है कि करौली के यदुवंशी शासक इस देवी को अपनी कुल-देवी के रूप में पूजते चले आये हैं।

एक यह भी किवदंती है कि देवी की प्रतिमा का निर्माण राघवदास नामक राजा ने करवाया था। एक समय में त्रिकूट पर्वत-क्षेत्र भयानक जंगलों से घिरा हुआ था। इस जंगल में नरकासुर नामक एक राक्षस रहता था। उसके आतंक से आस-पास के सारे लोग परेशान थे। देवी ने काली का रूप धारण कर नरकासुर का संहार इसी जंगल में किया था। तभी से आस-पास के लोग देवी को परसने लगे और मीना एवं गुजरों की यह इष्ट-देवी बन गयी।

इतिहास कुछ भी रहा हो—लेकिन इसमें सन्देह नहीं है कि इस क्षेत्र के लोगों को जितनी श्रद्धा कैलादेवी में है—अन्य देवी देवता में नहीं है। राजाश्रय मिलने के कारण देवी की प्रतिभा आस-पास के प्रान्तों में भी फैली है।

करौली के राजसिंहासन पर जब महाराजा भंवरपाल आरूढ़ हुए तो उन्होंने यात्रियों की सुख-सुविधा की ओर विशेष ध्यान दिया। सड़कों, पुलों और धर्मशालाओं का निर्माण उन्होंने कराया। प्रत्येक वर्ष चैत्र मास की शुक्ला अष्टमी को शोभा-यात्रा निकलती थी। स्वयं महाराजा उसमें सम्मिलित होते थे। यात्रा प्रारम्भ होते ही तोपें गरज उठती थीं। इस शोभा-यात्रा में सजे-धजे सेना के वीर, हाथी, रथ, घोड़े आदि सभी होते थे। यात्रियों के लिये यह शोभा-यात्रा एक विशेष आकर्षण बन गयी थी।

इस क्षेत्र में ज्यों ज्यों सुविधायें बढ़ने लगीं त्यों त्यों यात्रियों की संख्या भी बढ़ने लगी। आज भी लाखों लोग पैदल, तांगा, बैलगाड़ी, मोटर, रेल और साइकिल द्वारा यहां पहुँचते हैं—देवी के दर्शन करते हैं—मनौती मनाते हैं और प्रसन्न हो चले जाते हैं।

कैलादेवी की पूजा अन्य देवियों की भांति बकरों की बलि द्वारा नहीं की जाती किन्तु कैला के पास ही प्रतिष्ठित एक अन्य देवी के भोग के लिए किसी समय यहां एक ही दिन में हजारों बकरों की बलि चढ़ायी जाती थी; किन्तु अब आर्य समाज एवं अहिंसा में विश्वास रखने वाले समाजों द्वारा विरोध करने के कारण बलि की संख्या अब अत्यन्त न्यून हो गई है।

यह स्थान सड़क द्वारा गंगापुर और हिन्डौन से जुड़ा हुआ है। गंगापुर एवं हिन्डौन शहर पश्चिमी रेलवे मार्ग से जुड़े हुए हैं। उधर धौलपुर एवं मध्यप्रदेश से आने वाले यात्री मासलपुर एवं सरमथुरा होकर आते हैं।

यहां सारी सुविधायें उपलब्ध हैं—बिजली, नल, पुलिस, अस्पताल, एक छोटा सा न्यायालय, पक्की दुकानें, खाने-पीने का सामान आदि।

कैलादेवी के मंदिर के सामने बहोरा भक्त की छतरी है। अगर किसी को पुश्तैनी व्याधि हो तो बहोरा का पुजारी झाड़-फूंक कर ठीक कर देता है। कालीसिल में स्नान किये बिना न तो कोई बहोरा की पूजा करता है और न कैलादेवी की तीर्थ यात्रा को सफल मानता है।

आज भी लाखों लोग इन विश्वासों से जुड़े हुये हैं, तभी तो लोग हर वर्ष, हर दिन खिंचे चले आते हैं। सैंकड़ों वर्षों से यह तांता लगा हुआ है। कौन जाने कब तक और चलता रहेगा। ☐ ☐
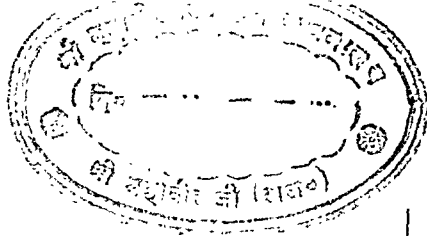
मंडोर

• डा० मदनराज दौलतराम मेहता

जोधपुर से ६ किलोमीटर दूर प्राचीन मारवाड़ की राजधानी मंडोर आज वह तपोवन नहीं जहां कभी माण्डव्यऋषि के तप एवं ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित थी, जहां कभी रावण की सती-साध्वी-पत्नी मंदोदरी का बचपन बीता था और जहां कभी रणबंके राठौड़ों के तेजस्वी चरित्र एवं गतिपूर्ण विजयों के इतिहास से अनेक पृष्ठ निबद्ध हुए थे। नर्मद और सीहड़ सांखले की पुत्री सुपियारदे के राग-रंग के कथांचल मंडोर को कला-साहित्य एवं संस्कृति के पोषक महाराजा मानसिंह ने योग-साधना का केन्द्र बना दिया।

मंडोर में पश्चिमोत्तर पहाड़ी भौगीशैल पर ही माण्डव्यऋषि ने कभी तपस्या की थी। कहते हैं उन्होंने ही मंदोदरी का लालन-पालन किया था और जब मंदोदरी वयसंधि पार कर चुकी थी तो उन्होंने लाडली मंदोदरी का विवाह-संस्कार मंडोर में ही आयोजित किया था। रेलवे-स्टेशन के पास एक छोटी सी पहाड़ी में गणपति और अष्ट-मातृकाओं की उत्कीर्ण मूर्तियां आज भी 'रावण की चंवरी' के रूप में प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः 'रावण की चंवरी' नामक स्थल राम और रावण के युग का नहीं अपितु गुप्त-काल का है। पास ही वाटिका के शिलालेख से अब यह सिद्ध हो गया है कि गणपति और मातृकाओं की मूर्तियों को गुप्त शासकों ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता को मूर्त रूप देने और वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध सभी के आराध्यों के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त करने के लिए उत्कीर्ण करवाया था।

भौगीशैल के नीचे है नागाद्रि और पास ही नागकुण्ड। भौगीशैल पर अवस्थित है कुछ ध्वंसावशेष। अधिकांश इतिहासवेत्ता इस ध्वंसावशेषों को मंडोर के दुर्ग की संज्ञा देते हैं किन्तु कतिपय विद्वानों की सम्मति में यहां जैन एवं वैष्णव मंदिरों की एक भव्य एवं मनोहर शृंखला थी। इन्हीं खण्डहरों में था एक तोरण द्वार (अब जोधपुर के सरदार संग्रहालय में सुरक्षित है)--जिसने इतिहास की एक तमाच्छादित शृङ्खला को आलोकित

किया और मंडोर के इतिहास में प्रतिहार शासकों की कला-प्रियता का अध्याय जोड़ा। ८वी-९वीं शताब्दी में इस तोरण-द्वार का निर्माण प्रतिहारों द्वारा करवाया गया था। सांची के सुप्रसिद्ध द्वार से मिलता जुलता यह द्वार कल्पना की सूक्ष्मता एवं अंकन की उत्कृष्टता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके दोनों स्तम्भों पर कृष्णलीला के अनेक मार्मिक एवं रोचक प्रसंग उत्कीर्ण हैं।

प्रतिहारों के अंतिम शासक नाहड़देव की वीरता एवं न्यायप्रियता की अनेक अनुभूतियां आज भी मंडोर और आसपास के क्षेत्र में प्रचलित हैं। प्रत्येक गुरुवार को भोगीशैल के पार्श्व में स्थित एक कृत्रिम कंदरा में नाहड़देव की अश्वारोही मूर्ति के समक्ष आज भी अनेक नरनारी वाद-विवादों के निग्रह के लिए नीर-क्षीर न्याय प्राप्त करते हैं।

मंडोर के भोगीशैल, नागाद्रि, नागकुन्ड, नागगंगा प्रभृति स्थानों के नाम नागवंशी की स्मृति दिलाते हैं। नागवंशियों के अतिरिक्त परमार, चोहान, ईदा एवं राठौड़ भी इस प्राचीन नगर को अपनी राजधानी वना चुके हैं।

भव्य एवं चित्ताकर्षक स्थापत्य के इस अनुपम केन्द्र पर कभी अरबों ने आक्रमण किया तो कभी बलूचों ने। मुगलों की कोप दृष्टि का भाजन मंडोर गजनवी, अल्तमश एवं तुगलक के आक्रमणों से भी वहुत क्षत-विक्षत हुआ किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि इस सुरम्य स्थान के कलात्मक कलेवर को विनष्ट करने वालों ने ही इसे पावन स्थल के रूप में प्रतिष्ठित भी किया। फिरोजशाह तुगलक ने यहां फिरोजशाही मस्जिद वनवाई और कमाल कलंदर की मजार पर सजदा किया।

कैहरी कैस भभंग मणि सरणाई सहड़ांह
सती पयोहर कृपणधन पड़सी हाथ मुवाह

की परम्परागत उक्ति को चरितार्थ करने वाले वीरों की प्रेरक स्मृति संजोये हुए है, मंडोर की वीर-वीथिका। वीर-वीथिका का दूसरा नाम है, 'तेतीस करोड़ देवताओं का स्थान'। एक पहाड़ी को काटकर महाराजा अभयसिंह के शासनकाल में भव्य आकृतियों को उत्कीर्ण कर इस वीथिका का निर्माण किया गया था। वीथियों में लोक-पूज्य देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त मालानी के संस्थापक योद्धा एवं लोकपुरुष रावल मल्लिनाथ, परोपकार के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले वीर पावू, असहाय वर्ग के लोकपुरुष रामदेव, जोधपुर के संस्थापक राव जोधा की सहायता के लिए रणांगण में वीरगति को प्राप्त करने वाले हड़वू, मेड़ता के राजा के कर्मठ सहयोगी जांभा और मेहा, फिरोजशाह से लोहा लेने वाले योद्धा गोगा, प्रभृति वीरों की भव्य मूर्तियां प्रनिष्ठित हैं। काल एवं परिस्थितियों की सीमा का अतिक्रमण कर मानव जीवन के शाश्वत एवं सार्वभौम तत्वों से सम्पन्न वीर-वीथिका के वीरों की गाथा लोक मानस में विद्यमान है। वीर-वाथिका के दर्शन से ऐसा अनुभव होता है जैसे उन वीरों के रिक्त आक्षि-कूपों में नयनों की ज्वाला भभक रही है—तथा उनकी मुखाकृतियों पर त्याग एवं वलिदान की अलौकिक आभा झलक रही है।

मंडोर से कोई ड़ेढ़ किलोमीटर दूर दुर्ग के पीछे हिन्दुओं का पावन क्षेत्र पंचकुण्ड विद्यमान है और उसके पास रावचूण्डा, राव रणमल्ल, राव जोधा और राव गंगा के देवल

। कलात्मक स्थापत्य एवं शिल्प की दृष्टि से राव गंगा की देवल मंडोर की पुरातत्व निधि का महान रत्न है। पंचकुण्ड के दक्षिण में मारवाड़ की महारानियों की छत्रियां हैं।

मालदेव के काल से जोधपुर नरेशों का अन्तिम संस्कार मंडोर के मोतीसिंह के बाग़ में होने लगा। राव मालदेव, मोटा राजा उदयसिंह, सवाई राजा सूरसिंह, राजा गजसिंह, महाराजा जसवंतसिंह, महाराजा अजीतसिंह प्रभृति मरुधराधीशों की समाधियां जो देवलों के नाम से अभिहीत की जाती हैं अपने उत्कृष्ट स्थापत्य एवं कलात्मक नक्काशी के कारण अपने काल की कला की यशोगाथा कहती हैं।

अनेक लोकगीतों के नायक मंडौर के काले-गौरे भैरव गणपति की भव्य एवं चित्ताकर्षक मूर्ति के दोनों ओर अवस्थित हैं। लोक देवी-देवताओं के प्राचीन इतिहास की एक श्रृंखला के रूप में इन मूर्तियों का व्यापक महत्व है।

उद्यानपुरी मंडोर में कई मेले लगते हैं जिनमें वीरपुरी और नागपंचमी के मेले अत्यधिक रोचक एवं कथापूर्ण हैं।

वीरपुरी का मेला १७वीं शताब्दी के अन्त से प्रारम्भ हुआ। इस संबंध में दो कथाएं प्रचलित हैं। पहली यह कि महाराजा जसवंतसिंह 'प्रथम' जब अहमदनगर में औरंगजेब की तरफ से लड़ने गये तो इनकी सेना को भारी मात्रा में हानि उठानी पड़ी तब उन्होंने मारवाड़ के वीर सपूतों का स्मरण किया। उन्हीं से प्रेरित होकर युद्ध में विजय प्राप्त की। वहां से लौटकर महाराजा ने वीर-वीथिका का निर्माण करवाया। प्रतिवर्ष इसी विजय-पर्व के दिन महाराजा श्रद्धाकुसुम चढ़ाने पूर्ण सवारी के साथ मंडोर जाया करते थे। तभी से जोधपुर निवासी इस वीर-शाला को मंगल एवं गरिमा का विषय मानते हैं।

दूसरी कथा यह है कि—मुगलों के समय में एक राजपूत जब युद्ध में जा रहा था तब उसकी मात्र कुंवारी बहन ने उसे रक्त का तिलक लगाकर सहर्ष विदा किया थी तथा यह कामना की कि वह युद्ध में विजयी होकर ही लौटे। बहिन की यह मनोकामना पूर्ण हुई। उस दिन से बहिनें भाईयों के विजय-तिलक लगाकर यह आयोजन करती हैं। सावन के अन्तिम सोमवार को लगने वाले वीरपुरी के इस मेले में सभी जाति से लोग नाचते गाते हैं। इस स्थान पर दूसरे दिन सिर्फ महिलाओं का मेला लगता है जो राजस्थान की नारी मर्यादा का आदर्श रूप है।

इसी तरह यहां का दूसरा मेला 'नाग पंचमी' का' है जो हर वर्ष भाद्र वदि पंचमी को भरता है। नाग प्रतिमा के अतिरिक्त इसमें विविध मनोरंजक कार्यक्रमों का संयोजन रहता है। इस दिन एक-डेढ लाख लोगों का एकत्र होना तो यहां सामान्य बात है।

उद्यानों एवं उपवनों का हरित परिधान धारण किये हुए दूर-दूर तक विस्तृत मुक्त पवन एवं गगन का आलिंगन करता हुआ मंडोर शताब्दियों से असंख्य नरनारियों को आकर्षित करता रहा है। आधुनिक युग के आलोक में—मंडोर ने करवट ली है। जीवन का प्रवाह, वहां नित्य नूतन है, स्निग्ध है, गहर, गंभीर एवं प्रशांत है। राजस्थान की प्राचीन संस्कृति की अखण्ड एवं अविरल धारा में अवगाहन करने के लिए मण्डोर सदियों से सबका स्वागत करता रहा है—और आज भी कर रहा है। □ □
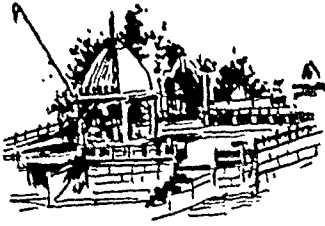
भरतृहरि

• डॉ० जयसिंह नीरज

भरतृहरि का नाम लेते ही कितनी ही कथाएं, चमत्कार और लोकोक्तियां उभरने लगती हैं। रानी पिंगला का पति भरतृहरि जो रानी के प्रेम में पगा हुआ था और विराग हुआ तो ऐसा कि सर्वस्व छोड़कर जोगी हो गया। जंगल-जंगल भटकने वाला और नाथपंथ का अलख जगाने वाला भरतृहरि तथा श्रृंगार शतक, वैराग्य शतक लिखने वाला कला एवं साहित्य प्रेमी भरतृहरि। इनमें कौन सा भरतृहरि इतिहास-पुरुष है या तीनों का व्यक्तित्व एक ही व्यक्ति में समाहित है, कुछ कहा नहीं जा सकता। इतना अवश्य है कि यह महापुरुष लोक जीवन तथा साहित्य-जगत में अत्यधिक प्रसिद्ध रहा है।

पिंगला के प्रेम में रमने वाला भरतृहरि वैरागी होकर जंगल–जंगल भटकता हुआ मत्स्य प्रदेश में आया होगा और यहां के गहन जंगल को देखकर उसका जोगी मन यहीं रम गया होगा। गोपीचन्द भरतृहरि के लोक गीतों को गाने वाले कनफटे जोगी उस कथा को बड़ी तन्मयता से गाकर अपना भरण पोषण करते हैं। भरतृहरि इधर क्यों आया? कैसे आया? इसका ऐतिहासिक तथ्य आज कहीं उपलब्ध नहीं है।

पर जन-जीवन में योगी भरतृहरि छाया हुआ है। अरावली की पहाड़ियों में अलवर से करीब ३६ किलोमीटर दूर सरिस्का अभयारण्य के पास बाबा भरतृहरि की जो समाधि बनी हुई है वह प्रकृति का सुरम्य अंचल है। तीन ओर ऊंची पहाड़ियां, घाटी में कलकल बहता हुआ झरना, हरियाली का साम्राज्य और स्थान-स्थान पर फक्कड़ों का घूनी से उठता हुआ उर्ध्वाकारी धुआं, जंगली जानवरों का साम्राज्य। शेर तो लोगों से यों ही टहलता हुआ कभी-कभी टकरा जाता है, पर मजाल क्या जो भरतृहरि बाबा की छत्रछाया में आज तक किसी जानवर ने किसी को सताया हो? वहां की पहाड़ियों में बसने वाले गूजर कष्ट पड़ने पर बाबा का भण्डारा बोलते हैं और जंगल में निर्भय रहते हैं। भण्डारे के समय बड़े-बड़े कड़ाहों में खीर बनती है और स्थान-स्थान के साधु-सन्त, फक्कड़ वहां एक-

त्रित होते हैं। भरतृहरि वावा का साम्राज्य फक्कड़ों की गोरखनाथ की जय से तथा सुल्फे की दम से गुंजरित हो उठता है। राख लगाए, लंगोट वांधे, कमण्डल और चीमटा हाथ में लिए तथा झोली लटकाए वावा लोग जंगल में मंगल कर देते हैं। ग्रामीण और पहाड़ी गूजर आत्मविभोर हो उठते हैं। वावा की समाधि को प्रणाम करते हैं। धूनी से भभूत लगाते हैं और वर्ष भर के लिए मंगल कामना करते हैं।

वैसे तो वावा की घाटी प्रत्येक समय ही गुलजार रहती है पर वर्षा ऋतु और मेले के समय वहां की शोभा देखते ही वनती है। दूर-दूर के लोग पिकनिक एवं सहभोज करने यहां आते हैं।

साल में दो वार वावा की समाधि पर मेला लगता है। वैशाख और भादों का यह लक्खी मेला राजस्थान के प्रसिद्ध मेलों में से है। पंजाव, हरियाणा, यू० पी० व राजस्थान की ग्रामीण जनता मेले में एकत्रित होती है। एक सप्ताह पूर्व से ही दुकानें लग जाती हैं। दूर-दूर के कनफटे वावा और अन्य साधु-सन्त मेले के अवसर पर एकत्रित होते हैं। काल-वेलिये चाहे किसी भी कोने में हों मेले के अवसर पर अवश्य एकत्रित होते हैं। जाट, गुर्जर, अहीर, मीणा, वागड़ा आदि जातियों की स्त्रियां अपनी-अपनी वेश भूषा में सजी-धजी मेले में नाचती गाती हैं। वावा की घाटी लोकगीतों, लोकनृत्यों और कालवेलियों की पूंगी के स्वरों से गूंज उठती है। संस्कृत का यह केन्द्र लोक जीवन की अल्हड़ता और मस्ती का स्वराज्य हो जाता है। कहीं कहीं पर अश्लीलता का प्रदर्शन भी देखने में आता है। एक समय था जव महाराजा जयसिंह इस मेले को अत्यधिक महत्व देते थे। सवारी निकलती थी। आमोद-प्रमोद की व्यवस्था होती थी और सामान्य दर्शकों के लिए दुकानें लुटाई जाती थीं। आज यह मेला लोक संस्कृति का प्रमुख आकर्षण वना हुआ है।

अलवर में भरतृहरि के दो स्थान और भी हैं। एक कुशालगढ़ के पास छोटा भरतृहरि कहलाता है और दूसरा तिजारा के पास में। हो सकता है वे प्रारम्भ में घूमते हुए वहां भी रुके हों और अन्त में यहा समाधि लगाई हो।

अलवर की पारम्परिक संस्कृति से लेकर आधुनिक वोध तक में वावा भरतृहरि का नाम समाहित हैं। पुराने लोग भरतृहरि वावा का भण्डारा वोल कर कार्य प्रारम्भ करते हैं और नवयुवक अपना आक्रोश जताने के लिए 'भरतृहरि वावा की जय' सामुहिक रूप से वोलते हैं। वावा का व्यक्तित्व इस दृष्टि से सार्त्र से किसी प्रकार कम नहीं। कालेज, स्कूल में हड़ताल करने के लिए 'भरतृहरि वावा की जय' आग का कार्य करती है। सभा या कवि सम्मेलन को उखाड़ने के लिए 'भरतृहरि वावा की जय' रामवाण है। भरतृहरि वावा सभा, समाज को व्यवस्था भी देता है और उखाड़ भी सकता है। निश्चय ही वावा का नाम और उसकी समाधि प्राचीन और आधुनिक वोध की प्रतीक है। लोकतीर्थ का ऐसा समन्वय अन्यत्र कम ही देखने को मिलेगा।

□
□
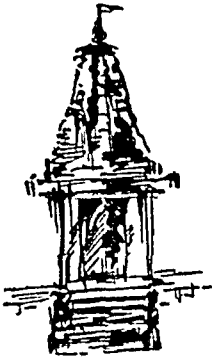
ऋषभदेव

• डॉ० नरेन्द्र भानावत

राजस्थान के दक्षिण भाग में उदयपुर से ६४ किलोमीटर दूर उपत्यकाओं से घिरा हुआ, कोयल नामक छोटी सी नदी पर स्थित, धुलेव नामक कस्बा है। यहीं मानव-सभ्यता के पुराकर्ता आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का विशाल मंदिर है। हिन्दुस्तान भर मे यही एक ऐसा मंदिर है जहां दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन, वैष्णव, शैव, भील एवं तमाम सच्छुद्र स्नान कर समान रूप से मूर्ति का पूजन करते हैं। प्रतिमा की अतिशयता एवं प्रभावना के कारण ही यह कस्बा (धुलेव) ऋषभदेवजी के नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति भारत के कोने-कोने से यहां दर्शनार्थ आते हैं।

ऋषभदेव जाने के लिये कई रास्ते हैं। पहला रास्ता उदयपुर से ऋषभदेवजी का है। इस पर प्रातःकाल से लेकर रात्रि-पर्यन्त कई बसें दौड़ती रहती हैं। दूसरा रास्ता गुजरात के ईडर से विजयनगर होकर ऋषभदेव आता है, तीसरा रास्ता डूंगरपुर से ऋषभदेव का है जो पक्का बना हुआ है। चौथा रास्ता सलूम्बर की तरफ से है। बम्बई और गुजरात प्रान्त के यात्री रतनपुर (राजस्थान और गुजरात का सीमा-स्थल) होकर ऋषभदेवजी चले आते हैं। अब उदयपुर से ऋषभदेव होता हुआ हिम्मतनगर तक जो रेल-मार्ग बन गया है उससे यात्रियों को विशेष सुविधा हो गई है, इससे उदयपुर और अहमदाबाद रेल-मार्ग द्वारा जुड़ गये हैं।

एक किलोमीटर के घेरे में स्थित पक्के पाषाण का यह विशाल मन्दिर अपनी प्राचीन शिल्प-कला के द्वारा दर्शकों के मन को अनायास ही मुग्ध कर लेता है। कहा जाता है कि पहले यहा ईंटों का बना हुआ एक जिनालय था जिसके टूट जाने पर १४ वीं–१५

वीं शती में जीर्णोद्धार के फलस्वरूप यह भावनात्मक एकता का प्रतीक विशाल मन्दिर सामने आया। यहां के शिलालेखों से पता चलता है कि इस मन्दिर के भिन्न-भिन्न विभाग अलग-अलग समय के बने हुए हैं।

प्रथम द्वार से (जिस पर नक्कारखाना है) प्रवेश करते ही बाह्य परिक्रमा कर चौक आता है। यहां पर दूसरा द्वार है जिसके दोनों ओर काले पत्थर का एक-एक हाथी खड़ा है। दक्षिण की ताक में पद्मावती एवं उत्तर की ताक में चक्रेश्वरी देवी के दर्शन होते हैं। इस द्वार से १० सीढ़ियां चढ़ने पर मन्दिर में पहुंचते हैं। वहां से तीन सीढ़ियां चढ़ने पर एक मण्डप आता है जो नवस्तम्भ का होने के कारण 'नौ चौकी' कहलाता है। यहां से तीसरे द्वार में प्रवेश करने पर 'खेला मण्डल' आता है। इसके आगे गर्भ-गृह है जिसमें ऋषभदेवजी की प्रतिमा स्थापित है। गर्भ-गृह के ऊपर ध्वजादण्ड सहित विशाल शिखर है और खेला मण्डप तथा नौ चौकी पर गुम्बज। मन्दिर के उत्तरी, दक्षिणी एवं पश्चिमी पार्श्व में देव कुलिकाओं (बावन जिनालय) की पंक्तियां हैं, जिनमें से प्रत्येक के मध्य में मंडप सहित एक-एक मंदिर है। देव कुलिकाओं और मन्दिर के बीच भीतरी परिक्रमा है। प्रवेश-द्वार के दक्षिण-भाग में डूंगरपुर की महारानी द्वारा निर्मित चारभुजा जी का वैष्णव मन्दिर है। उसके आगे २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान का नवनिर्मित मन्दिर है जिसमें ५ फुट ऊंची पद्मासन में स्थित पार्श्वनाथ की एवं दक्षिण-दीवाल में सप्तर्षि की कायोत्सर्ग प्रतिमा है।

गर्भ-गृह में ऋषभदेव भगवान की पद्मासन स्थित मनुष्य के समान अवगाहन वाली साढ़े तीन फीट ऊंची श्यामवर्णीय भव्य प्रतिमा हैं। यह प्रतिमा लगभग सवा फीट ऊंचे पावासण पर विराजमान है जिसमें नीचे ही नीचे मध्य भाग में दो बैलों के बीच में देवी तथा उस पर सर्व-धातु के बने हुए हाथी, सिंह आदि स्थित हैं। इनके ऊपर १६ स्वप्न (जो तीर्थंकर की माता को तीर्थंकर के गर्भ में आने पर आया करते हैं) अंकित हैं। इन पर छोटी-छोटी नव जिन प्रतिमाएं हैं जिन्हें लोग नवग्रह कहते हैं। प्रतिमा की पद्मासन स्थित मुद्रा के बीच वृषभ का चिन्ह है जो कर्ममूलक संस्कृति का प्रतीक है। प्रतिमा के आजू-बाजू तथा ऊर्ध्व भाग में सर्व-धातु का बना हुआ शेष तेइस तीर्थंकरों की प्रतिमा से अंकित भव्य सिंहासन है। इस सिंहासन को छोड़कर समस्त गर्भ-गृह तथा उसका द्वार चांदी से मढ़ा हुआ है।

भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा पर कोई लेख या संवत् अंकित नहीं है। अतः इसकी प्राचीनता एवं प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में कई किंवदंतियां प्रचलित हैं; जैसे—

> रामायणकाल में यह प्रतिमा लंका के मन्दिर में विराजमान थी। भगवान रामचन्द्र लंका-विजय कर आते समय इसको अपने साथ लाये और उज्जैन में प्रतिष्ठित की।
>
> इस प्रतिमा का निर्माण ८ वीं शती में हुआ और विक्रम सं० ८२ में उज्जैन संघ के आचार्य श्री विद्यानन्दि ने इसे प्रतिष्ठित किया।

अलाउद्दीन के समय में यह प्रतिमा इसी स्थान से ६४ किलोमीटर दूर जंगल में स्थित एक मन्दिर में थी। जब विदेशी आक्रमणकारियों ने सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ इस मन्दिर पर भी आक्रमण किया तो समस्त सेना अंधी हो गई और एक पुजारी को स्वप्न आया जिसके अनुसार वह प्रतिमा को कावड़ में रख कर यहां (धुलेव) ले आया और एक साहूकार ने इसकी प्रतिष्ठा कराई।

यह प्रतिमा डूंगरपुर इलाके के आसपुरे बड़ौदे में विराजमान थी। विदेशी आक्रमणों से आतंकित होकर सुरक्षा की दृष्टि से कतिपय भक्तगण कावड़ में इसे यहां ले आये और पगल्याजी (स्थान विशेष) पर रखी, पर उसी दिन मूर्ति अन्तर्धान हो गई। मूर्ति को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते पुजारी एक ग्वाले की सहायता से जंगल में पहुँचा; वहां देखता क्या है कि बांसों की झाड़ी में पड़ी प्रतिमा पर एक गाय का दूध झर रहा है। इस चमत्कार से प्रभावित हो वहां पर गाय के स्वामी सेठ ने एक मन्दिर बनवाया और प्रतिमा की विधिवत् प्रतिष्ठा की। स्नान कराते समय मूर्ति पर घाव देखकर सभी चमत्कृत हुए। इस पर रात्रि में सेठ को स्वप्न में भगवान ने कहा कि मेरे आश्रम के निकट म्लेच्छों ने गोवध किया था। उस समय गायों के जो घाव लगे थे वे मेरे शरीर पर उघड़ आये हैं। आज भी प्रतिमा कमर के पास खण्डित देखी जाती है।

न जाने कितने लोग प्रतिवर्ष अपनी कार्य-सिद्धि की कामना से मनौती करने के लिए यहां आते हैं। किसी का आंगन सूना है तो सन्तति की कामना से दम्पत्ति-वर्ग बढ़ा आ रहा है, किसी का लाडला बेटा बीमार है तो मां भगवान के दर्शनार्थ भागी आ रही है। मनौती करने वालों का प्रतिदिन मेला लगा है। यह क्या ? कार्य-सिद्ध हो गया है—मानता छुड़ाने के लिए भीड़ जमा है—दम्पत्ति ने (किंवदन्ती है) तीन वर्ष के बालक के बराबर केसर तोलकर भगवान के चरणों में चढ़ा दी है—उसी का तो दिया हुआ यह लाल है ! मां ने भगवान के ही दरबार में अपने बेटे का जडुल्या (प्रथम बार बाल कटवाना) उतरवाया है, उसी ने तो इसकी रक्षा की है। भीलों का दल 'कारिया बावा' की जय बोलता हुआ मन्दिर में प्रवेश कर रहा है—उसी ने तो उन्हें जीने की कला सिखाई है। भगवान सबका है, सब इसके हैं। भारत की ऐसी भावात्मक एकता का विचित्र संगम स्थल है—ऋषभदेव।

मन्दिर में नित्य सेवा-पूजन का एक निश्चित कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत प्रातःकाल साढ़े सात बजे से 'जल प्रक्षाल' होता है जो आधा घन्टे तक चलता रहता है। इसकी सूचना देने मन्दिर का एक कर्मचारी धर्मशाला में आया करता है। मन्दिर में ही ठण्डे व गरम जल का तथा शुद्ध कपड़ों का प्रबन्ध है। स्त्रियों के लिए नहाने की अलग व्यवस्था है। सभी भक्त स्नान करके, विधिवत् जलाभिषेक करते हैं। ठीक प्रातः ८ बजे 'दूध प्रक्षाल' चालू हो जाता है। इस समय की अलौकिक छवि देखते ही बनती है। इसके बाद पुनः जल-प्रक्षाल होकर धूप-सेवन होता है। ९ बजे केसर तथा फूल से पूजन प्रारम्भ होता

है। जल प्रक्षाल, दूध प्रक्षाल तथा केसर पूजा की वोली वुलाई जाती है। जिसकी रकम भण्डार में जमा न होकर पुजारियों को जाती है। केसर पूजा के १० मिनट वाद ही आरती होती है।

दोपहर में डेढ़ वजे से ४ वजे तक प्रातःकाल की तरह पूजा होती है। उसके वाद मुख्य प्रतिमा को आंगी (झांकी) धारण कराई जाती है जो शाम को ७ वजे से रात्रि ११ वजे तक रहती है। इस समय आरती, स्तवन तथा नृत्यादि होते रहते हैं।

आश्विन कृष्णा प्रथमा तथा द्वितीया को यहां अपूर्व रथ-यात्रा निकलती है तथा चैत्र कृष्णा अष्टमी व नवमी को विशाल मेला लगता है जिसमें हजारों यात्री एकत्र होते हैं।

ऋषभदेव के आसपास और भी कई दर्शनीय स्थान हैं जिनमें पगल्याजी, चन्द्रगिरि, भीम-पगल्या, भट्टारक-यशकीर्ति-भवन, पीपली मन्दिरजी आदि उल्लेखनीय हैं।

ऋषभदेवजी की मूर्ति पर वहुत अधिक केसर चढ़ाई जाती है इस कारण ये 'केसरियाजी' या 'केसरियानाथजी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऋषभदेवजी की प्रतिमा चमकते हुए काले पाषाण की है, अतः भील लोग इनको 'कालाजी' कहकर पुकारते हैं और इनके प्रति उनकी इतनी अधिक श्रद्धा और मान्यता है कि उन्हें 'कालाजी की आण' दिलाने पर वे अपने सत्य से किंचित भी विचलित न होंगे। काला रंग इस वात का भी सूचक है कि भगवान गुणातीत है। जिस प्रकार काले रंग के आगे अन्य सभी रंग अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान की शरण में जाने पर भक्त के सारे दोष दूर हो जाते हैं, वह निर्विकार हो जाता है। धुलेवा ग्राम में स्थित होने से 'धुलेवा-धणी' के नाम से भी वे सम्वोधित किये जाते हैं।

सौम्यपूर्ण प्रतिमा की अतिशयता, वातावरण की पवित्रता तथा प्राकृतिक दृश्यों की मनोहरता के कारण यह स्थान आज भी लाखों लोगों का आकर्षण-केन्द्र और श्रद्धा-भाजन वना हुआ है।

☐

☐

हरसनाथ

• डॉ० मनोहर शर्मा

सीकर से दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग तेरह किलोमीटर की दूरी पर 'हरस' नामक एक छोटा सा गांव बसा हुआ है। इसके पास ही 'हरस' नामक एक पर्वत है। किसी समय यह गांव अत्यंत विस्तृत एवं वैभव-सम्पन्न नगर था, जिसके बारे में अब भी जनसाधारण में अनेक कहावतें प्रचलित हैं। आजकल 'हरस के भैंरूजी' को विशेष लोक मान्यता प्राप्त है परन्तु मूल रूप में यह हर्षदेव अर्थात् भगवान शंकर का पुण्य-स्थल है। ध्यान रखना चाहिए कि यह देवस्थान भक्तों के साथ ही ऐतिहासिक शोध-कर्त्ताओं तथा कला समीक्षकों के लिए भी एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थल है। समय-समय पर सर्जेन्ट ई. डीन, प्रोफेसर कीलहार्न, सर कनिंघम, कारलाइल, डा. भण्डारकर, स्वर्गीय ओझाजी आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने इस स्थान की यात्रा करके अपने श्रम को सफल एव उपयोगी बनाया है। इसी प्रकार अनेक कला-समीक्षकों ने भी हर्षगिरि की प्रस्तर-प्रतिमाओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके उनका महत्व उद्घाटित किया है। इस विषय में राजस्थान के पुरातत्व संग्रहालय विभाग के विद्वान् निदेशक श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल द्वारा लिखे हुए अनेक महत्वपूर्ण लेख द्रष्टव्य हैं जो विविध शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। हर्षगिरि की कलाकृतियों की सुरक्षा एवं अध्ययन हेतु सीकर में एक संग्रहालय भी बना हुआ है, जिसमें बहुसंख्यक प्रतिमाएं संगृहीत हैं। यहाँ की अनेक मूर्तियां विदेशों के संग्रहालयों की भी शोभा बढ़ा रही हैं।

सन् १८३४ ई. में सर्जेन्ट ई. डीन ने हर्षगिरि के महत्वपूर्ण शिलालेख का पता लगाया था। यह प्रसिद्ध शिलालेख इस समय सीकर के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें प्रारम्भ में हर्ष नाम से शिवजी की, हर्ष पर्वत की एवं पूजा के निमित्त निर्मित देवालय की प्रशंसा है। इसके बाद यहां के नामकरण पर प्रकाश डाला गया है—त्रिपुर नामक राक्षस का संहार

करने पर हर्ष उत्पन्न होने के कारण इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा हर्ष रूप भगवान शंकर की इस पर्वत पर पूजा की गई, जिससे भगवान शंकर का नाम हर्षदेव, इस पर्वत का नाम हर्षगिरि तथा समीपस्थ नगरी का नाम हर्ष नगरी प्रसिद्ध हुआ। शिलालेख में आगे प्रतापी एवं यशस्वी चौहान राजाओं की वंशावली दी गई है तथा उनके शौर्य एवं दान का वर्णन किया गया है। सांभर के चौहान राजाओं ने इस देवालय को प्रचुर सम्पत्ति भेंट की थी। हर्षनाथ उनके लिए उसी प्रकार आराध्य थे जिस प्रकार मेवाड़ के गुहिलोतों के लिए एकलिंगजी सदा से रहे हैं। शिलालेख में हर्षगिरि के तपस्वी साधकों का भी वर्णन है, जिनकी चेष्टा से इस देव-भवन का निर्माण हुआ। साथ ही इस देवस्थान को भेंट में मिले हुए गांवों तथा खेतों की भी सूची दी गई है। यह महत्वपूर्ण लेख संस्कृत-श्लोकों में है और इसकी मिति आषाढ़ शुक्ला १५ सम्वत् १०३० है।

काफी लम्बे समय तक हर्षगिरि का यह कलापूर्ण देवस्थान सुरक्षित रह कर अपने भक्तों के लिए पूजा का विशेष केन्द्र बना रहा। परन्तु मुगल बादशाह औरंगजेब के शासन-काल में उसके सेनापति खान जहानबहादुर ने अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिए इसमें बारूद भर कर इसका विनाश कर दिया। फिर भी भक्तों के हृदय में इस पुण्यस्थल के प्रति श्रद्धाभावना बनी ही रही जो किसी रूप में आज तक बनी हुई है।

हरस गांव से हरस पर्वत पर जाने के लिए पक्का खुर्रा बना हुआ है। लगभग साढ़े चार किलोमीटर की चढ़ाई है। पहले 'चोर चाकी' नामक विश्रामस्थल आता है। किंवदन्ती है कि पुराने जमाने में हर्ष नगरी में कोई चोर आ घुसता था तो यहां पर रखी हुई एक चक्की अपने आप चलने लग जाती थी और उससे नागरिक सचेत हो जाते थे। अगला विश्राम स्थल गौमंटी के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इस स्थान पर पहिले गायें रहती थीं। चढ़ाई समाप्त होने पर पर्वत पर लगभग एक मील तक समतल सी भूमि आती है। अन्त में प्राचीन देवालय के खण्डहर सामने दृष्टिगोचर होते हैं।

विध्वंस्त देवालय के सम्मुख खड़ा होते ही यात्री कल्पना के द्वारा मानों प्राचीनकाल में पहुंच जाता है। अपने पूरे वैभव में यह पुण्यस्थल कितना भव्य रहा होगा! यहां के दिव्य भवन को गिराते समय आक्रमणकारी के कठोर हृदय में मानवीय भावनाएं सर्वथा लुप्त हो गई होंगी। मनुष्य के पागलपन की यह नृशंस-लीला दर्शक के चित्त को आलोड़ित कर डालती है।

देवालय के निर्माण के लिए इस स्थान का चुनाव करने में बड़ी समझदारी प्रकट हुई है। देवभवन की नींव धरवाने के लिए पर्वत के अन्तिम भाग को चुना गया है। यह स्थान समुद्र से करीब तीन हजार फीट ऊंचा है। यहां से दूर-दूर के नगर तथा गांव चारों ओर दिखलाई देते हैं। एक ओर कुछ दूरी पर 'खारड़ा' (खारे पानी का विस्तृत ताल) फैला हुआ है। लगभग साढ़े तीन किलोमीटर की दूरी पर जीणमाता दृष्टिगोचर होती हैं।

हरस के साथ जीण का नाम स्वाभाविक रूप से जुड़ा हुआ है। इस विषय में कई रोचक कहानियाँ लोकप्रचालित हैं।

जीणमाता पुराण-वर्णित जयन्ती देवी है। इस का एक नाम 'भ्रामरी' भी है। गीतों में इसे 'भूरा की राणी' कहा जाता है। जीणमाता के मन्दिर में भी कई शिलालेख हैं जो इस शक्तिपीठ की ऐतिहासिक जानकारी देते हैं।

इसी प्रसंग में हरस और जीण के भीड़े (लम्बे गीत) पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है। गीत का सार इस प्रकार है—घांधू में हरस और जीण दो भाई-बहिन थे। उनमें हरस बड़ा था और जीण छोटी थी। उनके माता-पिता मर चुके थे, इसलिए जीण का भार उसके भाई हरस पर ही था। एक दिन जीण और उसकी भावज अर्थात् हरस की पत्नी पानी लाने के लिए तालाब पर गई। वहां भावज ने अपनी ननद जीण को कुछ कटु वचन कह दिए, जिनसे रुष्ट होकर यह तप करने के लिए घर से निकल गई। जब भाई हरस को बहिन के घर छोड़ने का समाचार मिला तो वह उसे प्रसन्न करके वापिस लाने के लिए उसके पीछे गया। परन्तु जीण ने किसी भी हालत में वापिस घर लौटना स्वीकार नहीं किया। ऐसी स्थिति में भाई हरस भी अपनी बहिन के साथ ही तप करने के लिए चल पड़ा। आगे जाकर ये दोनों अलग-अलग पर्वतों पर तप करने लगे और समय पाकर देव तथा देवी के रूप में लोक-पूजित हुए।

काफी वर्षों के बाद बादशाह की सेना जीण का मन्दिर तोड़ने के लिए आई, परन्तु वहां एक साथ ही अगणित भौंरों का दल प्रकट हुआ और बादशाह की फौज के सिपाहियों को काटने लगा। इस प्रकार शाही सेना की बड़ी दुर्गति हुई तो बादशाह ने देवी को भेंट चढ़ा कर अपना पिंड छुड़ाया। इसके बाद जीण माता की मान्यता और भी अधिक बढ़ गई।

यही कारण है कि लोक-गीतों में भी भाई और बहिन (हरस और जीण) दोनों के नामों को एक साथ ही मिला कर गाया जाता है।

यह संतोष का विषय है कि हर्षनाथ के विध्वंस्त किए जाने के बाद भी इस स्थान के महात्म्य को बनाए की चेष्टाएं जरूर की जाती रही हैं। हर्षनाथ के प्रधान मन्दिर की नींव पर बिखरी हुई शिलाएं एवं पत्थर रख कर प्राचीन स्मृति के कारण उसे एक मन्दिर का रूप दिया गया है। मन्दिर के आगे वाले भाग में भी प्राचीन खम्भों को खड़ा करके उन पर शिलाओं से छत पाट दी गई है। इसी प्रकार प्राचीन कलापूर्ण प्रतिमाओं को भी दीवारों के भाग में बाहर या भीतर दिखाई देते हुए लगाने की चेष्टा की गई है। प्रधान मंदिर के सामने आंगन में सफेद चिकने पत्थर की विशाल नन्दीश्वर प्रतिमा स्थापित है। मूर्ति खुले आकाश में रखी हुई है और मानो निर्निमेष नयनों से खण्डित हर्षनाथ की काले पत्थर की पिण्डी की ओर देख रही है।

आश्विन और चैत्र मास में दुर्गापूजा के अवसर पर जीण माता के स्थान पर बड़ा भारी मेला लगता है और दूर-दूर की भक्त-जनता यहां देवी-दर्शन के लिए तथा 'जात-जडूलों के लिए इकट्ठी होती है। इसके बाद चतुर्दशी को हर्षगिरि पर भैरूंजी का बड़ा मेला लगता है और वहां भी भक्त लोग उमड़े पड़ते हैं। मेलों के समय इन स्थानों की महिमा देखते ही बनती है। □

एकलिंगजी

• श्री रामवल्लभ सोमानी

राजस्थान के शिवमन्दिरों में एकलिंग मन्दिर एक महत्त्वपूर्ण एवं दर्शनीय मन्दिर है। यह उदयपुर से लगभग २१ किलोमीटर दूर, उदयपुर-नाथद्वारा-व्यावर के राजमार्ग पर स्थित है जहाँ बस सेवा नियमित रूप से उपलब्ध है।

मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध में कई रोचक कथायें प्रचलित हैं। जिनका सार यह है कि बाप्पा रावल ने हारीत राशि नामक साधु की बड़ी सेवा की। उक्त साधु की प्रेरणा से ही उसने राज्य विस्तार किया। कहते हैं कि जब हारीत राशि विमान में बैठकर स्वर्ग की ओर जाने लगे तो बाप्पा को बुलाया, किन्तु वह निश्चित समय से कुछ देर बाद आया एवं विमान कुछ ऊपर उठ चुका था। हारीत राशि बाप्पा रावल के शरीर को अमर करना चाहता था अतएव उसने एक बीड़ा उसके मुंह की ओर विमान से डाला, किन्तु वह मुंह पर नहीं गिर कर पांव में जा गिरा। तब उक्त साधु ने कहा कि यह तो पांवों पर गिरा है अतएव मेवाड़ का राज्य तेरे वशंज बराबर भोगेंगे। इन कथाओं में इतना अवश्य सत्य है कि मन्दिर का निर्माण हारीत राशि की प्रेरणा से बाप्पा रावल ने किया हो।

मन्दिर का मुख्य द्वार पश्चिम की ओर है और चारों ओर एक परकोटा बना हुआ है जिसका आधुनिकरण महाराणा मोकल (१४७७ से १४९० वि०) के समय किया गया था। मन्दिर में प्रवेश करते समय सामने एक मठ दिखाई देता है। इस मठ के उत्तरी ओर स्थित मार्ग मन्दिर का मुख्य भाग है। इसमें प्रवेश करते ही कई छोटे-बड़े मन्दिर दिखाई देते हैं जो देवकुलिकाओं की तरह हैं। भगवान का मुख्य मन्दिर पश्चिमाभिमुख है। इसके सामने नन्दिकेश्वर की मूर्ति एवं कई सुदृढ़ लेख हैं। मन्दिर के दाहिनी ओर के भाग की रथिका में १९ हाथों वाली त्रैलोक्य मोहन की प्रतिमा है। इस मन्दिर का निर्माण निस्संदेह सूत्रधार मंडन ने किया था क्योंकि मूर्तियों का स्वरूप उसके रूपमंडन आदि ग्रन्थों

के आधार पर बनाया गया है। मुख्य मन्दिर के पीछे की ओर २ कुण्ड हैं और कई छोटे छोटे शिव मन्दिर हैं। दक्षिणी ओर सबसे उल्लेखनीय मन्दिर "नाथ मंदिर" है। यह ऊपर की ओर बना हुआ है। इसके बाहर की रथिका में वि० सं० १०२८ का शिलालेख खुदा हुआ है। बाहर की दूसरी रथिका में "सरस्वती" की सुन्दर प्रतिमा बनी हुई है जो १० वीं शताब्दी की एक उत्कृष्ट कलाकृति है।

एकलिंगजी में मुख्यमन्दिर के अतिरिक्त आसपास और भी कई स्थान दर्शनीय हैं। विंध्यवासिनी का मन्दिर, राष्ट्रसेना का मन्दिर, भर्तृहरि की गुफा, बाघेला तालाब, बाप्पारावल स्थान, चीरवा का मन्दिर, नागदा के प्राचीन देवालय (सासबहु मंदिर, खुमाण रावल, दिगम्बर जैन मन्दिर, श्वेताम्बर मदिर) आदि।

प्रारम्भ में यह मंदिर लकुलीश सम्प्रदाय का केन्द्र रहा था। हारीत राशि का उल्लेख ऊपर किया गया है। इनकी शिष्य परम्परा का पूरा उल्लेख नहीं मिलता है। वि० सं० १३३१ और १३३५ के चित्तौड़ के शिलालेखों में प्रसंगवश इनका उल्लेख किया गया है, अतएव ऐतिहासिकता में संदेह नहीं है। वि० सं० १०२८ का एकलिंग मंदिर का शिलालेख लकुलीश सम्प्रदाय के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण है। इसका प्रारम्भ "ॐनमो लकुलीशाय" से हुआ है। उक्त लेख की १२ वीं पंक्ति से प्रकट होता है कि ये साधु शरीर पर भस्म लगाते वृक्षों की छाल पहनते और सिर पर जटा जूट रखते थे। महाराणा कुम्भा के शासन काल में बनी हारीत राशि की प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। यह विंध्यवासिनी के सामने गुफा में रखी हुई है। इसके सिर पर जटा–जूट आदि बना हुआ है। उक्त लेख के अन्त में कई साधुओं के नाम हैं यथा—सुपूजितराशि, सयोराशि आदि। वेदांगमुनि नामक साधु का बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है। जिसने बौद्धों और जैनों को हराया था। सौभाग्य से जैनों की लाट बागड़ की गुर्वावली में भी इस घटना का उल्लेख है जिसमें शैवों को हराने का वर्णन है। एकलिंगजी के समीप पालड़ी ग्राम से वि० सं० ११७३ का एक शिलालेख मिला है, जिसमें खंडेश्वर नामक साधु की परम्परा में हुये जनक-राशि; त्रिलोचनराशि, वसंतराशि, वल्कलमुनि आदि के नाम हैं। एकलिंगजी के समीप स्थित चीरवा (Chirawa) ग्राम से प्राप्त वि० सं० १३३० के शिलालेख में शिव राशि का उल्लेख है जिसे "पाशुपत-तपस्विपतिः" कहा गया है। यह महेश्वर राशि का शिष्य था। ये साधु महाराणा कुम्भा (१४९०–१५२५ वि०) के शासन काल तक बराबर कार्य करते रहे थे। शिवानन्द नामक साधु कुम्भा का समकालीन था। ऐसी मान्यता है कि इसका कुम्भा से संघर्ष हो गया था और यह काशी चला गया था। इसी कारण महाराणा कुम्भा के लेखों, एकलिंग माहात्म्य, एकलिंग पुराण रायमल की एकलिंग मन्दिर की प्रशस्ति आदि में इन साधुओं की बड़ी उपेक्षा की गई है। वापस नरहरि नामक साधु यहां आया प्रतीत होता है। इसका एक शिलालेख वि० सं० १५९२ का यहां से मिला है। वि० सं० १६०२ के एक लेख में गर्गाचार्य नामक साधु का उल्लेख है। कालान्तर में इन साधुओं के स्थान पर दण्डी स्वामी साधु यहां लगाये गये। इनमें रामानन्द नामक साधु सबसे पहले यहां आये थे। आज भी इनकी परम्परा में हुए महन्त रहते हैं।

मन्दिर की पूजा व्यवस्था उल्लेखनीय है। प्रतिदिन ३ वार पूजा होती है। एक वार सुवह, दूसरी वार मध्यान और तीसरी वार सायकाल । तीनों वार तीन-तीन आरतियां होती हैं। मंत्रोचार के साथ इस प्रकार की पूजा वहुत ही कम जगह देखने को मिलती है। साल में कई वार मन्दिर में उत्सव होते हैं। इनमें अक्षयतृतीया, शिवरात्रि आदि के उत्सव उल्लेखनीय हैं। नैवेद्य की व्यवस्था स्थानीय ट्रस्ट द्वारा की जाती है। मंदिर में प्राप्त होने वाली भेंट का उपयोग इसके लिये नहीं होता है। यह "शिवशक्ति पीठ" नामक संस्था चलाने के काम में लाया जाता है। यह सांस्कृतिक कार्य करती है।

भगवान एकलिंगजी को मेवाड़ का अधिपति और महाराणा को "दीवाण" कहा जाता रहा है। इसलिये इस मंदिर की सारी व्यवस्था आज भी महाराणा द्वारा संचालित "एकलिंग ट्रस्ट" द्वारा होती है। महाराणा जव भी मंदिर में प्रवेश करते हैं हाथ में सोने की छड़ी लेकर के जाते हैं। यह इस वात की द्योतक है कि वह एकलिंगजी का प्रतिहारी है। दीर्घकाल से मेवाड़ के शासक इस मंदिर की व्यवस्था के लिये कार्य करते रहे हैं। महाराणा हमीर के वाद के शिलालेखों में वरावर इसका उल्लेख मिलता है। महाराणा खेता ने इस मन्दिर की व्यवस्था के लिये पनवाड़ नामक ग्राम भेंट किया था। महाराणा लाखा ने चीरवा ग्राम एवं इसके पुत्र मोकल ने वांघनवाड़ा और रामा नामक ग्राम भेंट किये थे। मोकल के अन्तिम दिनों में गुजरात के सुल्तान ने इस मंदिर पर आक्रमण किया और इसके कुछ भाग को खंडित कर दिया। इसे महाराणा कुम्भा ने वापस वनवाकर सुशोभित किया। मंदिर की स्थिति गुजरात से दिल्ली जाने वाले मुख्य मार्ग पर होने के कारण सदैव आक्रमणकारियों से यहां भय वना रहता था। मालवे के सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी ने महाराणा रायमल के शासनकाल में भी इसे खंडित किया था, जिसका जीर्णोद्धार वापस उक्त महाराणा ने कराया था। कुम्भा ने मंदिर की पूजा व्यवस्था के लिये नागदा, कठडावण, मलखेड़ा और भीमाणा ग्राम भेंट किये थे। महाराणा रायमल ने नौवांपुर ग्राम भेंट किया। इस प्रकार लगभग सारे महाराणा इस प्रकार की व्यवस्था करते आ रहे हैं। महाराणा भीमसिंह के समय जव मराठा के आक्रमण वहुत अधिक होने लगे और आन्तरिक अव्यवस्था हो गई तव एकलिंगजी तालुक ग्रामों पर भी दूसरों का अधिकार हो गया। तव उक्त महाराणा ने लगभग ३ फीट लम्वा ताम्रपत्र खुदवाकरके सारे ग्रामों को वापस भेंट किये।

मंदिर में कई शिलालेख लग रहे हैं। इनमें सवसे प्राचीन वि० सं० १०२८ का है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त महाराणा मोकल, रायमल, जगतसिंह, राजसिंह, संग्रामसिंह द्वितीय, भीमसिंह आदि के कई शिलालेख लगे हुये हैं। ४० से भी अधिक ताम्रपत्र यहां संगृहित हैं।

मन्दिर की स्थिति नागदा और देलवाड़ा के प्रसिद्ध प्राचीन स्थानों के मध्य है। ये दोनों स्थान जैन और वैष्णव तीर्थ स्थल हैं। अतएव इसका महत्व वहुत ही अधिक है।

□

रामदेवरा

• श्री मूलचन्द 'प्राणेश'

पश्चिमी धरा का पावन धाम रूणीचा अथवा रामदेवरा जोधपुर राज्यान्तर्गत पोकरण नामक ग्राम से लगभग २१ किलोमीटर उत्तर दिशा में स्थिति है। यह धाम जोधपुर-पोकरण रेल मार्ग एवं बीकानेर-रामदेवरा मोटर मार्ग से जुड़ा हुआ है।

रूणीचे के निर्माता बाबा रामदेवजी तंवर का आविर्भाव पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उस काल में राजस्थान तो क्या, समग्र भारतवर्ष की दशा दयनीय थी। समग्र भू-भाग विदेशी सत्ता द्वारा पदाक्रांत था। पराजय पर पराजय के थपेड़ों से यहां का जन-मानस हीन-भावना से ग्रसित हो चुका था। शान-सत्ता छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित थी। सर्वोच्च सत्ता की ओर से साम्प्रदायिक विद्वेष इतना जोर पकड़ चुका था कि विजित हिन्दू जनता को उनके नित्य कर्म करने तक का अधिकार न था। हिन्दुओं में भी परस्पर छोड़े-बड़े और छुआ-छूत की भ्रान्ति अपनी चरमावस्था पर थी। अनेक मत-मतान्तरों का उदय हो चुका था। ऐसी ही विकट परिस्थित में पश्चिमी राजस्थान के ऊंडू-कासमेर (तहसील-शिव) नामक गांव के पास तंवर कुलश्रेष्ठ अजमलजी के घर माता मेणादे की कोख से आशा की किरण का प्राकट्य हुआ, जिसने आगे चलकर मानवमात्र को मानवीय अधिकार दिलवाने का बीड़ा उठाया और समग्र राजस्थान, गुजरात, सिन्ध तथा घाट क्षेत्र में शान्त-क्रान्ति का सूत्रपात किया।

जिन दिनों बाबा रामदेवजी का अवतरण हुआ, उन दिनों राजस्थान के पश्चिमी भू-भाग पर सातलमेर (वर्तमान पोकरण के समीप) के कुख्यात भैरव का प्रबल उत्पात था। फलस्वरूप आस-पास के सैकड़ों ग्राम उजड़ चुके थे। दुर्भाग्यवश यदि कोई जीवधारी उक्त भैरव के अधिकार क्षेत्र में चला जाता तो वह दुष्ट उस प्राणी को जीवित नहीं छोड़ता। मानव देहधारियों में मात्र एक तपोनिष्ठ साधु भैरव के दुष्प्रभाव से प्रभावित नहीं हुआ, वह था जोगी बालीनाथ। ये ही बालीनाथजी महाराज आगे जाकर बाबा राम-

देवजी के धर्म गुरू के रूप में प्रतिष्ठत हुए। वर्तमान पोकरण में इनका साधना स्थल विद्यमान है तथा इनकी समाधि जोधपुर के निकट मसूरिया नामक पहाड़ी पर बनी हुई है। बाबा रामदेवजी ने यद्यपि अनेक बाल-लीलाएं की थीं, परन्तु उन सब में भैरव-दमन-लीला ने वहां के क्षेत्रीय जन-मानस को अत्यन्त प्रभावित किया।

एक बार बाबा रामदेवजी अपने साथियों के साथ गेंद खेल रहे थे तो उनकी गेंद भैरव की सीमा में जा गिरी। सायंकाल हो चुका था तथा भैरव का भय भी भयभीत कर रहा था अतः कोई भी साथी गेंद लाने का साहस न कर सका। ऐसी परिस्थिति में बाबा रामदेवजी स्वयं गेंद लेने के लिए तैयार हुए। साथियों ने रात्रि का तथा भैरव का भय बताकर लाख-लाख मना किया, परन्तु बाबा रामदेव के चरण तो जिधर गेंद गई थी उधर बढ़ चुके थे।

संध्याकालीन झुट-पुटा। पक्षी अपने-अपने नीड़ों की ओर चहचहाते बढ़ रहे थे। नीरवता का साम्राज्य शनैः शनैः बढ़ रहा था। ऐसे समय में बालक रामदेवजी योगी बालीनाथजी की धूनी पर पहुँचे। उन्होंने जाते ही सर्वप्रथम योगी के चरण स्पर्श करते हुए साष्टांग दण्डवत किया। योगीराज ने बालक की पीठ थप-थपाकर आशीर्वाद देते हुए (साश्चर्य) इस प्रकार के कुसमय में आने का कारण पूछा। बालक रामदेव ने निश्छल भाव से गेंद वाली घटना निवेदित करदी। योगी बालीनाथजी निःश्वास छोड़ते हुए बोले—'बेटा! गेंद तो अवश्य मिल जायेगी; परन्तु दुष्ट भैरव से पिंड कैसे छूटेगा।"

बालक रामदेव ने सविनय निवेदन किया—"गुरु महाराज का वरदहस्त जिस शिष्य के सिर पर है, उसका कोई क्या बिगाड़ सकता है?"

गुरु-शिष्य दोनों धूनी के आस-पास सो रहे। अर्द्ध रात्रि के समय दुष्ट भैरव खाऊं-खाऊं करता हुआ वहां आया और योगीराज को सम्बोन्धित करके बोला—"नाथजी महाराज! आज तो बहुत दिनों के बाद मनुष्य की गंध मिली है उसे आपने कहां छुपा रखा है?"

योगी बालीनाथजी ने उसे बहुत समझाया-बुझाया और टालने का प्रयत्न किया, परन्तु वह दुष्ट राक्षस कब मानने वाला था। वह सीधा जहां रामदेवजी गुदड़ी ओढ़े सो रहे थे वहां पहुँच गया तथा गुदड़ी का एक छोर पकड़ कर खेंचने लगा, परन्तु गुदड़ी टस से मस नहीं हुई। यह वृतांत देखकर भैरव, बालक रामदेवजी के पराक्रम को ताड़ गया तथा चुपचाप अपनी गुफा का मार्ग पकड़ा।

भैरव के वापस चले जाने के पश्चात् बालक रामदेवजी उठे और योगीराज को सम्बोधित करते हुए बोले— "महाराज! यदि आपकी आज्ञा हो तो उस दुष्ट भैरव का काम तमाम कर जाऊं?"

योगी बालीनाथजी ने सम्पूर्ण वृतांत अपनी आंखों से देखा था तथा बालक रामदेव के पराक्रम के प्रति सिर हिलाकर मूक स्वीकृत दे दी।

बाबा रामदेव तत्काल अपना चुटिया लेकर उठे और जिधर भैरव गया था, उधर चल पड़े। भैरव यद्यपि अपनी तीव्र गति से गुफा की ओर बढ़ रहा था; परन्तु बाबा राम-देवजी ने उसे आगरों (नमक की खानों) के पास पहुंचते-पहुँचते धर दबोचा। कुछ देर तक तो दोनों में द्वंद्व युद्ध चलता रहा, परन्तु अन्ततोगत्वा वह दुष्ट भैरव परास्त होकर गिर

पड़ा। वावा रामदेवजी उसकी छाती पर चढ़ बैठे और मुष्टिका प्रहार करने बगे। यह देखकर भैंरव रोने लगा तथा प्राणों की भीख मांगने लगा। दयालु वावा रामदेदजी ने भविष्य में अपकर्म न करने का वचन लेकर उसे अभयदान दिया तथा आगरों के आस-पास की भूमि उसके विचरणार्थ निश्चित करदी।

भैंरव के उत्पीड़न का भय मिट जाने के फलस्वरूप वर्षों से वीरान पड़ी भूमि कृषि से लहलहाने लगी। सैकड़ों उजड़े हुए गांव फिर से आवाद हो गए। वावा रामदेवजी भी अपने पूरे परिवार को पोकरन (प्राचीन नाम पौढी) ले आये। वावा रामदेवजी की पारिवारिक प्रतिष्ठा एवं स्वयं की ख्याति देखकर अमरकोट (वर्तमान में पाकिस्तान में) के सोढा दलैसिंहजी ने अपनी सुपुत्री नेतलदे का सम्बन्ध वावा रामदेवजी के साथ कर दिया।

वावा रामदेवजी ने अगला कार्यक्रम अछूतोद्धार का हाथ में लिया। मानव-मानव के वीच खड़ी भ्रान्ति की दीवार को ढहाने के लिए उन्होंने एक सन्त-पंथ (जो आगे चलकर 'कामड़िया पंथ' कहलाया) की स्थापना की। इस पंथ में दीक्षित व्यक्ति जाति-पांति, ऊंच-नीच, कुलीन-अकुलीन इत्यादि के कृत्रिम वन्धनों से मुक्त होकर सन्त हो जाता था। रावल मल्लीनाथजी, जाड़ेचा जेसल, भाटी ऊगमसी, सांखला हड़वूजी, मांगलिया मेहजी इत्यादि प्रतिष्ठित राजघराने के लोगों से लेकर मेघवंशी धारू, रैंवारी रतना, डाली-वाई इत्यादि अस्पृश्य लोग तक इस सन्त-मत में दीक्षित थे तथा जिस दिन जुम्मा (रात्रि जागरण) होता था, उस दिन सव लोग सम्मिलित होकर समान भाव से अपने इष्टदेव की आराधना करते थे। इस मानवोचित व्यवहार के परिणामस्वरूप वावा राम-देवजी अपने जीवन काल में ही अवतारी पुरुष एवं पीर की पदवी से अलंकृत हो गये।

वावा रामदेवजी ने अपने निवास स्थान पोकरन को अपनी भतीजी (वीरमदेवजी की पुत्री) को दहेज में दे देने के उपरांत पोकरण से वारह किलोमीटर उत्तर की ओर अपना नया निवास स्थान वनाया, उसका नाम उन्होंने अपने नाम पर रामदेवरा रखा।

अनेक लौकिक-अलौकिक लीलाओं का परिचय देते हुए वावा रामदेवजी ने (सं० १५१५ वि०) अपने द्वारा निर्मित रामसरोवर की पालि पर जीवित-समाधि ले ली। वर्तमान में इस पवित्र स्थान पर एक विशाल मन्दिर वना हुआ है तथा उनकी पावन-स्मृति में प्रति वर्ष दो वार—भाद्रपद शुक्ला १० तथा माघ शुक्ला १० को मेला लगता है। इस मेले में राजस्थान, गुजरात, पंजाव, सिंघ, घाट, मध्यप्रदेश इत्यादि प्रांतों के सहस्रों नर-नारी भाग लेते हैं तथा वावा रामदेवजी के दर्शन, रामसरोवर में मज्जन, वावड़ी के जल का आचमन एवं नगर प्रदक्षिणा करके अपने-आपको कृत्त-कृत्य समझते हैं।

तेरहताली नृत्य मेले का प्रमुख आकर्षण है। इसे कामड़िया लोग प्रस्तुत करते हैं। इसमें एक कामड़िया-स्त्री अपने शरीर के विभिन्न भागों पर मजीरे वांध लेती है तथा हाथ के मजीरे द्वारा विभिन्न मुद्राओं के साथ उन्हें वजाती है। अन्य पुरुष तम्वूरा, हारमोनियम, खड़ताल, चिमटा व मजीरा के साथ ताल देते रहते हैं। ये लोग वावा रामदेवजी की जीवनी से सम्वन्धित परिचयों का गायन प्रस्तुत करते हैं। कामड़ियों के शताधिक दल मेले के अव-सर पर सक्रिय रहते हैं तथा स्थान-स्थान पर वावा रामदेवजी की जय-जयकार से वाता-वरण गुंजायमान रहता है। □

नाकोड़ाजी

• श्री भंवरदान बारहठ

नाकोड़ाजी जोधपुर से बाड़मेर जाने वाले रेल मार्ग के बालोतरा जंक्शन से कोई १० किलो मीटर पश्चिम में लगभग १५०० फीट ऊंची पहाड़ियों से घिरी हुई पवित्र घाटी के नाके पर स्थित है। इसके लगभग ७–८ किलोमीटर उत्तर में वैष्णवों का सुप्रसिद्ध खेड़मंदिर, १ किलोमीटर उत्तर पश्चिम में राजपूतों और भीलों की बस्तीवाला गांव मेवानगर और चारों तरफ ऐतिहासिक वीरमपुर के खन्डहर विद्यमान हैं।

परम्परागत ख्यातों और रूढीगत दन्तकथाओं के अनुसार यहां का मुख्य स्थल भगवान पार्श्वनाथ जी का मंदिर लगभग २४०० वर्ष पूर्व बना था और इसकी पुष्टि करने के लिये 'नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ' नामक पुस्तिका के विद्वान लेखक श्री सूरजमल संघवी ने अजमेर के पास 'बड़ली' नामक ग्राम के पास प्राप्त ई० पू० ५वीं शताब्दी के शिला लेख को प्रमाण रूप में दिया है।

जन श्रुतियों के अनुसार, ई० पू० तीसरी सदी में नाकोर सैन और वीरम दन्त नामक दो राजपुत्र भाइयों ने नाकोर नगर (स्थान अनिश्चित) और वीरमपुर नामक नगर अपने-अपने नाम से बसाये और जैन धर्म से प्रभावित होने के कारण उन नगरों के मध्य में सुन्दर जिनालयों का निर्माण कराया। नाकोरनगर के जिनालय में उस समय मूल नायक के रूप में भगवान श्री सुविधिनाथ जी की मूर्ति की स्थापना हुई थी। तत्-पश्चात ई० पू० पहली शताब्दी के प्रारम्भ में सम्राट अशोक के पौत्र सम्प्रति ने इस मंदिर को जीर्णोद्धार करवा कर आचार्य श्री सुहास्तिसूरीजी महाराज की देख रेख में रखा। ईसा की प्रथम शताब्दी में उज्जैन के महान् हिन्दू सम्राट विक्रमादित्य ने विद्याधर गच्छ के आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर की निश्रा में भी इस तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया था। इसके बाद इस मंदिर का जीर्णोद्धार करवाने वालों में आचार्य श्रीमान तुंगसूरी का नाम आता है। सं० ३६६ ई० बाद यहां मूल नायक सुविधिनाथ जी के स्थान पर भगवान

महावीर स्वामी की स्थापना की गई। सातवीं और आठवीं शताब्दियाँ जैन धर्म का स्वर्ण युग मानी जाती हैं अतः स्वाभाविक ही था कि इस समय में अनेकों वार इस तीर्थ का पुनः निर्माण और विकास हुआ।

ईसा की १३वीं सदी के प्रारम्भ में जव यवनराज आलमशाह ने आक्रमण किया और वहुमूल्य प्रतिमाओं को वचाने के लिये उन्हें कालीदह नामक गुफा में छुपाया गया: उस समय मूल नायक के रूप में सुविधिनाथ और महावीर स्वामी का नहीं वल्कि भगवान पार्श्वनाथ का उल्लेख मिलता है। इस आक्रमण के फलस्वरूप नाकोर नगर और वीरमपुर दोनों पूरी तरह तवाह कर दिये गये थे। फलतः वाद के २०० वर्षो तक इस तीर्थ की गतिविधियों का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस समय इस प्रदेश की राजधानी खेड़ पर गोयल वंशीय राजपूतों का शासन था जिनकी अन्तिम और वदनाम शासक पोपां वाई हुई जिसकी कहावतें जगत विख्यात हैं।

कहते हैं इस पोपां की पोल देख कर तेरहवीं सदी में महान पराक्रमी राठोड़ों ने खेड़ पर चढ़ाई कर तमाम गोयलों को मौत के घाट उतार कर यहां पर अधिकार जमा लिया और उनके रावल मल्लीनाथ जी जैसे कुशल शासकों के कारण इस क्षेत्र की पुनः उन्नति होने लगी।

सुप्रसिद्ध वीर काव्य वीरमायण (वीरमाण) के अनुसार रावल मल्लीनाथ जी के चार भाई थे जिनमें से अत्यन्त शूरवीर और पराक्रमी, वर्तमान जोधपुर इडर और बीकानेर नरेशों के आदि पुरूष, वीरमदेव ने अपने नाम पर वीरमपुर नामक नगर वसाया जो शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर पहुंच गया।

इस समय यहाँ जैनों की अच्छी वस्त 'वस चुकी था और सव सुसम्पन्न थे अतः श्रद्धालु भक्तों ने पुनः अपने प्राचीन खंडहर प्रायः जिनालय के स्थान पर वर्तमान मंदिर का निर्माण करवाया और कालीदह में छुपी पड़ी १२० जिन प्रतिमाओं को निकाल कर लाए। वड़ी धूम-धाम से भगवान श्री पार्श्वनाथ की २३ इंच ऊंची श्यामवर्ण प्रतिमा को मूल नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

जैन मतानुसार भगवान तीर्थंकर वीतराग होते हैं अतः वे किसी की पूजा आराधना से प्रसन्न और आरावना से रूष्ट नहीं होते न ही वे किसी को वरदान या श्राप देते हैं। इसलिये सकाम भक्तों की मनोकामनाओं की पूर्ति और उन्हें वीतराग की आराधना का फल प्रदान करने के लिये प्रत्येक जिनालम में एक अधिष्ठायक देव की स्थापना की जाती है। ये देव मंदिर की रक्षा भी करते हैं। नाकोड़ा जी पार्श्वनाथ मंदिर के अधिष्ठायक देव श्री नाकोड़ा भैरव जी वहुत प्रसिद्ध और जागृत देव माने जाते हैं।

भारत भर में फैले इनके श्रद्धालु भक्त इन की मिन्नत करके मनोवांछित फल प्राप्त करते हैं। वहुत से भक्तजन तो इन्हें इष्टदेव मान कर अपनी दुकान में इन के नाम की हिस्सेदारी रख कर अपनी कमाई का निश्चित अंश भैरव जी के लिये सुरक्षित रखते

हैं और वर्ष के अंत में उसे भैरव जी की सेवा में उनके खाते में जमा कर देते हैं। जिससे भैरव भोजन शाला आदि का प्रवन्ध और अनेकों शुभ कार्य चलते रहते हैं। वास्तव में यदि नाकोड़ा तीर्थ के मुख्य आकर्षण श्री भैरव को ही मान लिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

पार्श्वनाथ मंदिर के सामने (कुछ दाहिनी ओर) गगन चुम्बी शिखर और संगमरमर की सिढ़ियों वाला भगवान श्री शान्तिनाथ जी का मंदिर है जिसकी सुन्दरता और कारीगरी को देखकर आवू के देलवाड़ा मंदिरों की याद ताजा हो जाती है।

इस मंदिर के चारों ओर चार देहरियां वनी हुई हैं जिनमें सर्व श्री भगवान पार्श्वनाथ जी, ऋषभदेव जी, नेमीनाथ जी और महावीर स्वामी की प्रतिमाएं हैं।

यद्यपि यह मंदिर काफी पुराना है जिसका निर्माण सुखमालासी के सेठ मालाशाह ने सम्वत १५१८ में अपनी वृद्ध माता के कहने से करवाया था तथापि चारों देहरियों की प्रतिष्ठा वर्तमान तपागच्छ के आचार्य श्री हेमाचल सूरिश्वरजी महाराज ने सं० १९६० ई० में करवाई है।

तीसरा वड़ा मंदिर भगवान ऋषभ देव का है जिसमें उनकी तीन फीट ऊंची श्वेत वर्ण और अत्यन्त आकर्षक प्रतिमा प्रतिष्ठित है।

चौथा मंदिर ऋषभदेव मंदिर के सामने ही गणधर श्री पुंडलीक स्वामी का है जिसका निर्माण वलाणा निवासी सेठ भीकमचंद कानमलाणी की सहायता से है। इस के दाहिनी ओर श्री चौमुखाजी का छोटा सा मंदिर है।

उपरोक्त जिनालयों के अलावा मुख्य पार्श्वनाथ मंदिर से जुड़ा हुआ १६वीं शताब्दी का वना हुआ श्री चारभुजा भी का वैष्णव मंदिर और पास ही १७वीं सदी का शिव मंदिर है जो राठौड़ों की सव धर्मों पर समभावना का प्रतीक है।

इन के अलावा ७वीं सदी से लेकर आज तक की वनी हुई अनेकों प्रतिमाएं हैं जो मंदिरों के अहातों और भूमि-गृहों में सुरक्षित हैं।

यूं तो यहां वारहोंमास हजारों यात्रियों के आने जाने से मेला ही लगा रहता है और हर पूर्णमासी को भी विशेष आयोजन रहता है किन्तु प्रति वर्ष मार्गशीर्ष वदि १० को भगवान श्री पार्श्वनाथ का जन्म-कल्याण-दिवस मनाया जाता है। इस दिन प्रति वर्ष लगभग १० से १५ हजार तक यात्री गण भारत के कौने-कौने से यहां आते हैं। इस दिन भगवान पार्श्वनाथ का भव्य जुलूस गाजे वाजे के साथ निकाला जाता है जिसे नवकारसी निकालना कहते हैं। इसी दिन लाखों रुपये व्यय कर श्रद्धालु सेठ नवकारसी भोज भी देते हैं जिसमें जीमणे के लिये किसी को मनाही नहीं रहती। मेले में आये हुए रंग-विरंगी और देश विदेश की वेश भूषा युक्त नरनारियों, शामियानों, दुकानों, ठेलों, वसों, कारों और टेम्पुओं की भीड़-भाड़ देख कर नाकोड़ा जी की किसी भी लोकतीर्थ से तुलना की जा सकती है। □

□

मेंहदीपुर

• श्री योगेशचन्द्र शर्मा

अनास्था और धर्म के प्रति बढते हुए अविश्वास के इस युग में मेंहदीपुर का स्थान एक आश्चर्यपूर्ण चमत्कार जैसा लगता है। भूत-प्रेतों के अस्तित्व पर आज का शायद ही कोई बुद्धिजीवी विश्वास कर पाये, लेकिन मेंहदीपुर में मानव शरीर के माध्यम से हजारों भूत-प्रेतों को जब हम दण्ड के भय से चीखते और चिल्लाते हुए देखते हैं तो अपने अविश्वास पर हमें पुनर्विचार की आवश्यकता महसूस होती है। यहां पर नित्य ही देश के कोने कोने से अनेक व्यक्ति आते हैं और अपनी भूत-प्रेतों की व्याधि से मुक्ति प्राप्त करके घर लौटते हैं। हर सप्ताह, मंगल और शनिवार को यहां पर मेले भरते हैं। वर्ष में दो बार—होली और दशहरे पर यहां विशेष मेले भरते हैं, जिनमें दर्शनार्थियों की संख्या बेहद बढ़ जाती है। भूत-प्रेतों की व्याधि के अतिरिक्त, पागलपन, मिर्गी, लकवा तथा तपेदिक जैसी बीमा-रियों के रोगी भी स्वास्थ्य-लाभ करते देखे गये हैं।

मेंहदीपुर, बांदीकुई रेल्वे स्टेशन से ३८ किलोमीटर दूर है। यहां जाने के लिये बांदीकुई से मोटरें मिलती हैं, जो लगभग एक घण्टे में मेंहदीपुर पहुँचा देती हैं। सम्भवतः पहाड़ों के बीच में बसा होने के कारण ही मेंहदीपुर को अक्सर घाटा-मेंहदीपुर भी कहा जाता है। शहरी जीवन से दूर यह एक छोटा सा स्थान है, जहां पर आबादी का अधिकांश बाहर से आने वाले यात्रियों का ही है। स्थायी रूप से यहां रहने वाले केवल वही व्यक्ति हैं जो या तो सन्त या पुजारी हैं अथवा यात्रियों को आवश्यक सामग्री उपलब्ध कराने वाले व्यापारी हैं। मेंहदीपुर में यह देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि यहां पर न तो कोई भिखारी ही नजर आता है और न यात्रियों की जेब पर लोलुप नजर रखने वाला कोई पण्डा या पुजारी ही।

आज जिस स्थान पर यात्रियों की चहल पहल रहती है, वहां पर प्रारम्भ में घनघोर जंगल था और शेर चीते जैसे भयंकर जंगली जानवर भरे पड़े थे। बालाजी के वर्तमान महन्त श्री गणेशपुरीजी के किसी गोसाईं पूर्वज ने ही इस स्थान का विकास किया। उनके नाम की जानकारी आज उपलब्ध नहीं। कहते हैं कि वे एक रात्रि में, किसी प्रेरणावश स्वप्नावस्था में ही अपने मकान से चल पड़े और इस बीहड़ जंगल की तरफ आये। यहां उन्होंने हजारों मशालें जलती देखीं। एक बहुत बड़ी फौज थी और उस फौज के प्रधान के रूप में उन्होंने साक्षात हनुमानजी को देखा। गोसाईं जी यद्यपि इस जंगल में स्वप्नावस्था में ही आये थे, किन्तु यह दृश्य जब उन्होंने देखा तो वे पूरी तरह से जाग चुके थे। यह सब देख कर वे भयभीत हुए और लौटकर घर आगये। वापिस घर आकर जब वे सोये तो उन्हें नींद में बराबर यह आवाज सुनाई दी—'उठो! मेरी सेवा का भार ग्रहण करो और पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करो।'

यह आवाज कहां से आ रही थी और कौन बोल रहा था, यह स्पष्ट नहीं हो सका। अतएव गोसाईं जी पसोपेश में पड़े रहे। अगली रात्रि को उन्हें स्वप्न में साक्षात हनुमानजी ने दर्शन दिये और अपने उपरोक्त आदेश को दोहराया। अगले दिन गोसाईं जी, जंगल में स्थित बालाजी की मूर्ति के पास पहुँचे तो चारों ओर से उन्हें घण्टा, घड़ियाल और नगाड़े बजने की आवाज सुनाई दी लेकिन उनमें से नजर कुछ नहीं आ रहा था। गोसाईं जी ने बालाजी की मूर्ति के सामने साष्टांग दण्डवत की और उसका विधिवत पूजन किया। इसके बाद उन्होंने आसपास के लोगों को इकट्ठा किया और उन्हें सारी बातें बतलाईं। उन लोगों के सहयोग से वहां पर एक छोटा सा मन्दिर बना दिया गया और जब बालाज ने वहां पर अपने कुछ चमत्कार दिखलाये तो स्वभावत: इस स्थान की लोकप्रियता बढने लगी। आज मेंहदीपुर में बालाजी का विशाल और प्रभावशाली मन्दिर बना हुआ है।

कतिपय शासकों ने इस स्थान को नष्ट करने का भी प्रयास किया किन्तु वे सफल न हो सके। यह भी कहा जाता है कि एक शासक ने तो बालाजी की मूर्ति को खोदने का भी प्रयत्न किया किन्तु सैकड़ों हाथ खोद लेने पर भी जब मूर्ति का ओर-छोर नजर नहीं आया तो वह हार मानकर चला गया। मान्यता है कि मूर्ति पर्वत का ही एक अंग है।

बालाजी की प्रतिमा से तनिक बांये हटकर आगे की तरफ भैरवजी की प्रतिमा है। भैरवजी इस दरबार के कोतवाल के रूप में जाने जाते हैं और उनका प्रमुख कार्य है, अपराधी भूत-प्रेतों को वन्दी करना और बालाजी के आदेश के अनुसार अन्य व्यवस्था करना। भैरव जी की प्रतिमा लगभग दो फुट गहरे गड्ढे में है। सम्भवत: मन्दिर के निर्माण के समय यह प्रतिमा कुछ छोटी पड़ी होगी। इसीलिये यहां पर यह गड्ढा बनाया गया। भैरवजी के आगे गाये जाने वाले तरह तरह के भजनों में, उनके स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

तीसरे देवता हैं—प्रेतराज। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, ये बालाजी की सेना के प्रधान माने जाते हैं। इनकी प्रतिमा बालाजी के मन्दिर से तनिक अलग हटकर, पीछे

की तरफ ठीक पहाड़ी की गोद में स्थित है। प्रमुख रूप से अपराधी भूतप्रेतों को दण्ड की व्यवस्था यहीं पर की जाती है। दिनभर यहां भक्तों की भीड़ लगी रहती है अतः यहां पर भैरव जी के मन्दिर की तुलना में अधिक खुला स्थान बनाया गया है। प्रेतराज की मूर्ति भी भैरवजी की मूर्ति के सामान ही काफी छोटी है, लगभग एक-डेढ फुट ऊंची। प्रेतराज की आकृति और भेषभूषा का वर्णन भी गीतों में किया गया है।

राजस्थान के प्रशासकीय क्षेत्र में होते हुए भी मेंहदीपुर के बारे में भक्तों का विचार है कि यह एक ऐसा क्षेत्र है जो लौकिक प्रशासन पर निर्भर नहीं करता। यहां के प्रमुख शासक हैं—स्वयं बालाजी महाराज और उनके सहयोगी हैं—भैरवजी और प्रेतराज। भूत-प्रेतों की एक बड़ी और अलौकिक सेना उनके नियन्त्रण में है। इस दरबार में देर भले ही हो जाये पर अन्धेर नहीं हो सकता। यहां छोटे बड़े सब बराबर हैं—सब की प्रार्थना समान भाव से सुनी जाती है। सम्भवतः इसीलिये बालाजी के इस दरबार को भक्तगण 'सच्चा दरबार' कहते हैं। खास बात देखने की यह भी है कि अन्य धार्मिक स्थानों पर पुजारी या किसी महात्मा आदि का प्रभाव होता है और वही आये हुए भक्तों का कष्ट निवारण करते हैं किन्तु यहां ऐसा नहीं है। यहां पर पुजारी का सम्बन्ध केवल देवता के पूजन से है भक्त का सीधा सम्बन्ध देवता से है और वही उसके आवेदनपत्र की सुनवाई की आवश्यक व्यवस्था करते हैं।

अन्य अदालतों के समान यहां पर भी व्याधिग्रस्त भक्त को अपनी सुनवाई के लिये आवेदनपत्र देना पड़ता है। आवेदनपत्र देने का तरीका सरल है, सवासेर लड्डू, सवासेर चावल और सवासेर उड़द किसी बरतन में रखकर बालाजी के सामने पेश करने पड़ते हैं। उसके बाद यही भोग भैरवजी और प्रेतराज के सामने पेश किया जाता है। हनुमानजी के लड्डुओं का भोग लगता है, भैरव जी के चावल का और प्रेतराज के उड़द का भोग लगता है। हनुमान जी के प्रसाद के दो लड्डू अर्जी देने वाले व्यक्ति को खिला दिये जाते हैं और उसके तत्काल बाद आवेदक की सुनवाई प्रारम्भ हो जाती है। सुनवाई का प्रारम्भ अक्सर बालाजी के सामने होता है। उसके बाद मुकदमा प्रेतराज के यहां भिजवा दिया जाता है। अधिकांश मामलों में प्रेतराज ही मुकदमों का फैसला करते हैं और अपराधी भूतों को दण्ड देकर, आवेदक को कष्टमुक्त करते हैं।

मुकदमे की सुनवाई का ढंग, साधारण दर्शकों के लिये मनोरंजक है और बुद्धिजीवियों के लिये एक आश्चर्य। अर्जी देने के बाद आवेदक नियमानुसार बालाजी के दरबार में बैठने लगता है और अचानक ही उसे लगता है, जैसे उसका शरीर भारी हो गया हो—उसका सर अपने आप हिलने लगता है। यह इस बात का प्रमाण माना जाता है कि बालाजी के दूतों ने कष्ट देने वाली दुरात्मा को पकड़ लिया है और अब दरबार में उसकी पेशी हो रही है। इसके कुछ समय बाद किसी आन्तरिक प्रेरणा से वह व्यक्ति उठ कर भैरवजी या अधिकांशतः प्रेतराज के मन्दिर में चला जाता है। वहां पर वह व्यक्ति स्वयं ही जमीन पर बार बार गिरकर या दीवार से टकरा कर अपने को चोट पहुंचाने लगता है। मान्यता है कि प्रेतराज के दूत ही रोगी के शरीर में प्रविष्ट भूत को इस प्रकार

की यातनायें देते हैं। यातनाओं से तंग आकर जब भूत क्षमा मांग लेता है तो उसे बालाजी की विशाल सेना में शामिल कर लिया जाता है और यदि भूत अधिक खतरनाक हो तो उसे फाँसी दे दी जाती है या अग्नि में जला दिया जाता है। फांसी का तरीका यह है कि आवेदक के शरीर में प्रविष्ट भूत, स्वयं ही चरणामृत के लिये दरबार में बनी कुंडी में अपना सर डालकर उसके बल सीधा खड़ा हो जाता है, और यही उसकी फांसी है। अग्नि में जलाने के लिये, वह स्वयं पीछे की पहाड़ी से लकडियां बटोर कर लाता है और उन्हें अपने सामने रखकर अग्नि से प्रज्वलित करता है। उसके बाद अग्नि की तपन से पीड़ित होकर वह चीखने चिल्लाने लगता है और थोड़ी ही देर में दुरात्मा जल जाती है। कष्ट से मुक्ति प्राप्त हो जाने के बाद आवेदक को कभी कभी दरबार की तरफ से एक दूत भी दिया जाता है जो आगे आने वाले खतरों से उसे सजग रखता है और उसकी रक्षा करता है।

रोगियों में अधिकतर स्त्रियाँ होती हैं। लेकिन विशेष बात यह है कि किसी भी प्रकार की मार पड़ने के समय उनके वस्त्र इधर उधर नहीं होते। यहां तक कि फांसी के समय सर के बल उलटी हो जाने पर भी उनकी लज्जा को आंच नहीं आती। ऐसा होने से पहले ही, अन्तःप्रेरणा से, वे अपनी साड़ी के नीचे के भाग को कसकर बांध लेती हैं।

यद्यपि मेंहदीपुर के ये चमत्कारपूर्ण दृश्य भक्त गणों के लिये अत्यन्त प्रभावशाली हैं किन्तु बुद्धिजीवी इन बातों को ढकोसले का नाम देते हैं। यूं भी आज के वैज्ञानिक युग में इस तरह की भूत प्रेतों की बातें सहसा विश्वास करने योग्य नहीं होतीं। तर्कशील व्यक्तियों के इस कथन में सत्य का अंश नज़र आता है कि बालाजी की मूर्ति के सामने बैठे अन्धविश्वासी व्यक्तियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है और अन्य व्यक्तियों के हिलते हुए सिर देखकर वह स्वयं भी अपने सिर हिलाने लगते हैं। इस कथन में सत्य का अंश इस आधार पर माना जा सकता है कि बहुत से व्यक्तियों को माला फेरते या पाठ करते हुए भी हम अक्सर सिर हिलाते देखते हैं और मेंहदीपुर में तो खास तौर से। लेकिन इसे पूर्ण सत्य इसलिये नहीं माना जा सकता कि उसके बाद वह व्यक्ति स्वयं ही अपने को मारता है और अपने शरीर को चोट पहुँचाता है। इसमें कौन सी मनोवैज्ञानिक बात कही जायेगी ? यद्यपि रोगी को तत्काल अपनी शारीरिक चोटों का ज्ञान नहीं होता लेकिन चेतनावस्था में आने पर उसे अपने शरीर में काफी वेदना महसूस होती है। केवल अन्धविश्वास के कारण और बिना किसी आधार के कोई व्यक्ति अपने शरीर को हानि पहुँचायेगा, यह बात स्वीकार करना कठिन है। फिर, यहां पर केवल अशिक्षित व्यक्ति ही आते हों ऐसी बात नहीं। साधारणतः शिक्षित व्यक्तियों की भी यहां पर बहुतायत रहती है।

मेंहदीपुर के चमत्कारों में कितना ढकोसला है और कितना सत्य, यह एक खोज का विषय हो सकता है। किन्तु यह निर्विवाद है कि यहां से प्रति वर्ष हजारों की संख्या में लोग व्याधिमुक्त होकर सन्तोष से घर लौटते हैं।

☐
☐

राणी सती

• श्री रामदत्त सांकृत्य

सती-तीर्थों में राजस्थान का झुंझुनू कस्बा सर्वाधिक विख्यात है। यहां सती नारायणी के कुल में अबतक १२ सतियां हो चुकी हैं। सती नारायणी ही राणी-सती के रूप में पूजी जाती है।

श्री नारायणी वाई—श्री राणी सती के श्वसुर का नाम सेठ जालीराम था। वे वांसल गोत्रीय अग्रवाल थे। इनके पूर्वज कभी राजस्थान छोड़ कर दिल्ली जा बसे थे, पर सेठ जालीराम व्यापार के सिलसिले में परिवार सहित हिसार जाकर रहने लगे थे। उस समय हिसार का नवाव झड़चन्द था। उसने सेठ जालीराम का सौजन्य और औदार्य देख कर उन्हें अपना दीवान वना लिया। नवाव के दीवान वन जाने पर सेठ जालीराम का यश-सौरभ चहुंमुखी हो गया। हिसार की जनता नवाव की अपेक्षा दीवान की अधिक इज्जत करने लगी।

सेठ जाली राम के दो पुत्र हुए। चांद-सूरज की तरह तनघनदास और कमला-राम। सेठ के पैतृक-गुणों के अलावा शौर्य-वीर्य उनमें पर्याप्त था। वे अन्य सेठों की तरह मूंछ नीची करके जीने के आदि नहीं थे। सम्मान के साथ क्षणभर जीवित रहने में अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। वे यथार्थ में 'टूट भले ही जायें, पर झुके नहीं' के प्रतीक थे।

श्री तनधनदास का विवाह महम—डोकवा के सेठगुरसामलजी की सर्व गुण सम्पन्ना पुत्री नारायणीवाई के साथ हुआ। चांद-चकोरी का योग देखकर सेठ का परिवार ही पुलकित नहीं था, आस पड़ौस भी उल्लसित हो गया था। अभी तनघनदास का मुकलावा—द्विरागमन भी नहीं हुआ था कि सेठ श्री जालीराम और नवाव झड़चंद में मनो मालिन्य हो गया।

सेठ जालीराम के पास अत्यन्त सुन्दर और शुभ लक्षणों से युक्त सुडौल एक घोड़ी थी, जिस पर सुवह-शाम सेठ का लाड़ला वेटा तनधनदास सवारी किया करता था। उस घोड़ी की प्रशंसा दूर-दूर तक फैली हुई थी। घोड़ों के व्यापारियों और राजा-महाराजाओं ने मुंह मांगे मोल पर घोड़ी खरीदने की इच्छा प्रकट की पर सेठ ने पुत्र की इच्छा के विरुद्ध घोड़ी वेची नहीं। नवाव का शाहजादा घोड़ी लेने के लिए जिद्द कर वैठा उसने अपने पिता से घोड़ी प्राप्त करने के लिए अनुरोध किया। पिता ने पहले तो अपने पुत्र को समझाया-बुझाया, पर शाहजादा का उग्र हठ देख कर नवाव को झुकना पड़ा। उसने सेठ जालीराम को बुलाकर शाहजादे के हठ की वात वताई और चाहे जिस शर्त पर घोड़ी देने का आग्रह किया।

सेठ जालीराम के सामने विकट समस्या खड़ी हो गई। इधर नवाव अपने शाहजादे के हठ के लिए घोड़ी प्राप्त करने की जिद्द पर अड़ गया, उधर उस का वेटा तनधनदास अपनी घोड़ी को जीतेजी किसी को नहीं देने के लिए अकड़ गया था। सेठ ने अपने पुत्र को समझाया-बुझाया, पर सेठ का वेटा टस से मस न हुआ। उसने घोड़ी की अपेक्षा अपने प्राण दे देना सरल समझा। अन्ततः सेठ को भी घोड़ी देने से इन्कार कर देना पड़ा।

शाहजादा हर सम्भव उपाय से घोड़ी प्राप्त करने के प्रयास में जुटा रहा और तनधनदास घोड़ी की निगरानी में पूर्ण सावधान रहने लगा। नवाव के शाहजादे ने कोई दाल गलती न देखी तो कहा जाता है कि एक रात नवाव का शाहजादा वेश वदल कर सेठ की घुड़शाला में घुस गया। लुकते-छिपते वह घोड़ी खोलने ही वाला था कि घोड़ी हिन-हिना उठी।

सेठ का वेटा भी सावधान था। उसने जव घोड़ी का हिनहिनाना सुना तो वह सांग-भाला लेकर घुड़शाला की ओर झपटा। शाहजादा भाग कर छिपने का प्रयास कर ही रहा था कि तनधनदास ने पूरे जोर से अपना भाला फेंक कर मारा। शाहजादा वहीं ढेर हो गया। शाहजादा का मृत-शरीर देख कर सेठ जालीराम और उनके दोनों वेटे नवाव के भावी भय से आशंकित हो गये। रातों रात हिसार छोड़कर वे झुंझुनू की ओर चल पड़े।

शाहजादे की मृत्यु की खवर सुन कर नवाव आपे से वाहर हो गया। उसने सेठ जालीराम को सपरिवार पकड़ने के लिए अपनी सेना भेजदी किन्तु सेठ का परिवार नवाव की सेना की पकड़ में आने से पहले ही झुंझुनू पहुँच चुका था।

उस समय झुंझुनू और हिसार के नवावों में काफी तनातनी थी। इस कारण हिसार के नवाव की सेना झुंझुनू में प्रवेश कर सेठ जालीराम के परिवार को पकड़ लेने का साहस न कर सकी। वह निराश होकर वापिस लौट आई।

इस घटना के थोड़े समय वाद ही तनधनदास के मुकलावे—द्विरागमन का मुहूर्त आ गया। इधर तनधनदास मुकलावे के लिए पहुँचा कि नवाव के गुप्तचरों ने नवाव को सूचना दी। नवाव वदला लेने के अवसर की खोज में था। उसने तनधनदास को वापिस लौटते समय पकड़ लेने के लिए अपनी टुकड़ी भेज दी।

तनधनदास अपनी पत्नी नारायणी देवी को साथ लिए एक जगल से गुजर रहे थे कि नवाव की सेना ने उन पर आक्रमण कर दिया। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। दोनों ओर के अनेक वीर मारे गये। तनधनदास भी बड़ी वीरता से लड़ा। उसने अनेक सैनिकों को मौत के घाट उतारा। सेठ-पुत्र की युद्ध निपुणता देख कर नवाव के सैनिक हक्के-बक्के रह गये। किसी सैनिक ने छिप कर तनधनदास पर आक्रमण किया। तनधनदास मारा गया। अपने पति को मरा देखकर श्रीनारायणी देवी भी चण्डी का रूप धारण कर युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़ी। उसने अनेक सैनिकों का संहार किया। श्रीनारायणीदेवी के प्रचण्ड रूप को देखकर नवाव के बचे कुचे सैनिक भाग खड़े हुए। अन्त में युद्ध-भूमि में राणा जाति के एक गायक को छोड़ कर कोई शेष नहीं रहा।

सैनिकों के भाग जाने पर श्री नारायणी देवी का चंडी रूप सतीत्त्व में परिवर्तित हो गया। उसने राणा से कहा—मैं पति के शव को लेकर यहीं सती होऊंगी तुम चिता तैयार करो। देवी की आज्ञा पाकर राणा ने चिता तैयार की। श्री नारायणी देवी अपने पति के शव को गोद में लेकर चिता पर चढ़ गई। सतीत्त्व का स्मरण किया कि चिता स्वत: धधक उठी। सती का इहलौकिक शरीर भस्म हो गया। वह दिव्य-रूप में प्रकट होकर राणा से बोली—तुम मेरी भस्मी लेकर झुंझुनू चले जाओ, जहां घोड़ा रुके वहीं मेरी भस्मी रख देना। मेरे घर वाले मेरा देवल स्मारक बना देंगे। मैं वहां राणी सती के रूप में अपने भक्तों का योग-क्षेम वहन करूंगी।

राणी सती की भस्मी लेकर घोड़े पर चढ़ कर चल पड़ा। घोड़ा झुंझुनू के निकट पहुँच कर रुक गया। जहाँ घोड़ा रुका, उसी स्थान पर सती के घर वालों ने राणी-सती के मंदिर का निर्माण करवा दिया।

यद्यपि श्री नारायणी देवी वि० सं० १३५२ में मार्गशीर्ष कृष्णा नवमी मंगलवार को सती हुई थी, पर भाद्र कृष्णा अमावस्या को सतियों की विशेष पूजा का विधान होने के कारण राणीसती की पूजा भी इसी तिथि को की जाती है। कुछ लोगों की मान्यता है कि सेठ जालीराम के परिवार में अन्तिम तेरहवीं सती-गूजरी सती भाद्र कृष्णा अमावस्या को हुई थी, इस कारण इन १३ सतियों की सामूहिक पूजा-उपासना इसी दिन की जाती है।

झुंझुनू में राणीसती का विशाल मंदिर है। अनेक धर्मशालाएं हैं। राजस्थान एवं अन्य प्रदेशों के धर्म प्राण अग्रवालों ने मुक्त हस्त से दान देकर सती के स्थल को लोक-तीर्थ का रूप देने में कोई काण-कसर नहीं रहने दी है। सचमुच झुंझुनू राणीसती के देवल के कारण लोक-तीर्थ बन गया है। भाद्र कृष्णा अमावस्या के दिन झुंझुनू में सती के दर्शनार्थियों की इतनी अधिक भीड़ होती है कि तिल रखने को भी स्थान रिक्त नहीं मिलता।

☐

☐

केशवराय पाटन

• श्री श्रीनन्दन चतुर्वेदी
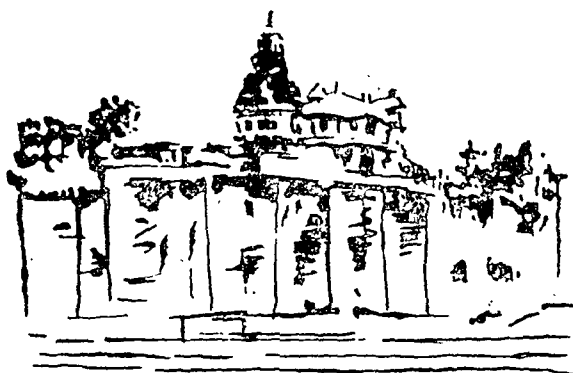
महाराजा रंतिदेव की प्रवहमान कीर्तिकथा, पुण्य सलिला चर्मण्वती दक्षिण से आती और पट्टनपुर (पाटन) के पैर पखारती हुई पूरब को मुड़ जाती है। बम्बई-दिल्ली लाइन पर केशवराय पाटन बूंदीरोड स्टेशन से लगभग ५ किलोमीटर और कोटा से मोटर द्वारा लगभग सात किलोमीटर पड़ता है। पट्टनपुर नगर नहीं है लेकिन देहात भी नहीं कहा जा सकता। यह एक कस्बा है, जिसकी जन संख्या आठ-दस हजार के बीच होगी। कार्तिकी पूर्णिमा पर यहां विशाल मेला लगता है। इस अवसर पर देश के विभिन्न भागों से आये हुए अनेकानेक श्रद्धालु जन श्री केशवराम जी, चार भुजाजी एवं जम्बुकेश्वर महादेव के दर्शनार्थ आ जुड़ते हैं। वर्तमान पाटन का विस्तार ढाई कोस भी कठिनाई से होगा किन्तु किसी समय यह बड़ी भव्य नगरी रही होगी क्योंकि वायु पुराण के अनुसार चौरासी कोस के जम्बू भाग के बीच इसका स्थान-विस्तार पांच कोस माना गया है। परशुराम-जमदग्नि संवाद के बीच इस प्रसंग पर पर्याप्त चर्चा हुई है। यथा हरिवंश पुराण में भी जम्बुकारराय और केशवराय पाटन के पुण्य महात्म्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

मुख्य नगरी केशवरायपाटन में और उससे दूर-दूर तक कितने ही देवालय खण्डर हुए पड़े हैं, कितने ही भूमि में धँस गये हैं और कितने ही जनसंकुल मार्गों से कहीं दूर वीरानियत की खामोशी में अपने अतीत की स्मृतियां संजोये पड़े हैं। पूरब की ओर चम्बल हरहराती बहती है, शेष दिशाओं में दूर तक बिछे लहलहाते खेत हैं, पीछे से चम्बल की नहर निकल रही है और समूची धरती अतीत खण्डहरों से भरी है।

पट्टन (पाटन) की परिधि के मुख्य देवालयों में श्री केशवराय पाटन का मन्दिर प्रमुख देवालय है। चैत्र की पूर्णिमा पर इसका विशाल प्रांगण कितने ही दर्शनार्थियों के पदचाप से भर उठता है। इस मन्दिर में रावराजा रघुवीर सिंह (बूंदी) का विक्रमी सं. १९५९ में लगवाया गया शिलालेख है जिसके अनुसार इस मन्दिर का निर्माण बूंदी के रावराजा श्री शत्रुशल्य जी ने विक्रमी सं. १६९८ में करवाकर किसी जीर्ण मन्दिर से उठाई

गई दो प्रतिमायें इस में स्थापित कीं। एक प्रतिमा श्री केशवराय जी की जो श्वेत संगमर्मर की है मुख्य मंदिर में तथा दूसरी श्री चारभुजाजी की कृष्ण मूर्ति जो परिक्रमा के मंदिर में है।

यह मंदिर विष्णुतीर्थ से ठीक ऊपर नदी तट से दो सौ फीट की ऊंचाई पर है जिसमें अन्दर, बाहर, सर्वत्र विविध प्रकार की पशु-आकृतियां, मनुष्य आकृतियां, नृत्य मुद्रायें और कृष्ण सम्बन्धी भागवत की कथायें मूर्तिरूप में उत्कीर्ण हैं। अन्दर की प्रतिमाओं पर चटकीले रंग हैं, जब कि बाहरी दीवारों की प्रतिमायें बार-बार चूने से पोती जाकर बे तरह दब गई हैं। मंदिर के बीचोंबीच बने गरुड़ ध्वज से संगमर्मर की गरुड़ मूर्ति हाथ जोड़े हुए श्री केशव राय जी को देख रही है।

इसी प्रकार पाटन के दक्षिणी छोर पर भगवान सुव्रतनाथ का जैन मंदिर स्थित है। जिसमें जैन तीर्थङ्करों की विविध रंग के पत्थरों की कलात्मक प्रतिमायें हैं। मुख्य छतरी के नीचे एक गुहा है जिसे "भें देहड़ा" कहा जाता है।

मैंत्री के हनुमान जी का मंदिर नगर के उत्तर पूर्व में लगभग छः फर्लांग दूर है। मंदिर अति प्राचीन शिवालय कहा जाता है जिसमें महावीर जी की स्थापना होल्कर द्वारा की गई बताते हैं। पुराण के अनुसार मैत्रावरुण ऋषि ने इस स्थान पर तप किया था फिर ब्रह्माने त्रिपुरासुर के बधार्थ यहां यज्ञ किया तब भगवान शिव यहां श्वेतवाहन पर आरुढ़ हो शुभ्ररूप से प्रकट हुए और यज्ञ पूरा होने पर यज्ञकुण्ड को जल से पूर्ण कर स्वलिंग रूप से अवस्थित हुए।

वराहतीर्थ पाटन से लगभग डेढ किलोमीटर दूर पड़ता है। बूंदी रोड़ सड़क से लगभग पचास गज दूर खेतों के बीच स्थित है। मंदिर बहुत पुराना है। तिबारी की छत की अनेकों पट्टियां टूट चुकी हैं। धरती पर बहुत पुराने समय का कुट्टिम है। गुम्बद पर यत्र तत्र सिंह प्रतिमायें बनी हैं। यहाँ वराह भगवान की मूर्ति बड़ी सुडौलता व सावधानी से गढ़ी गई लगभग साढ़े चार फीट की है।

एक और दर्शनीय स्थान है—जल के जंबू जी। नदी मध्य होने से यह स्थान वर्षा काल में जल मग्न हो जाता है। यह ठीक उस स्थल पर है जहां नदी पूर्व को मुड़ती है। इसे श्वेतवाहन सुखेश्वर तीर्थ भी कहा जाता है। यहां दो शिव लिंग व नन्दी प्रतिमायें हैं। अवन्तिका पुरी के सुदेव ब्राह्मण की अंतर्कथा इस के साथ जड़ी हुई है।

इनके अतिरिक्त केशवराय पाटण में कितने ही महत्वपूर्ण देवालय हैं जिनका सबका अपना अलग पौराणिक इतिहास है। इनमें रुद्रतीर्थ, ऋण-मोचन तीर्थ, स्वर्ग द्वार, गो, पंचरुद्र अथवा अग्नितीर्थ, सौपर्ण तीर्थ, सारस्वत, ब्रह्माणी सर, वैकुण्ठ श्वेतवाहन, विश्राम तीर्थ, मुक्ति तीर्थ, श्री करकरा भैरव आदि प्रमुख हैं।

हरिवंश तथा वायु पुराण इन प्रतिमाओं की कीर्तिकथा तथा इस समूचे प्रदेश के आख्यानों से भरे हैं। कहते हैं परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर मानसिक शांति के लिये इसी स्थान पर तप किया था। भगवान विष्णु कल्पवृक्ष लाते समय यहां विश्राम को रुके और पांडव गण भी युधिष्ठर के साथ जंबुकारराय की यात्रा के समय यहां पधारे थे।

श्री केशवराय जी व चारभुजाजी की मूर्तियों के संबंध में एक पौराणिक आख्यान है। राजारंतिदेव के यज्ञ व तप से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हे वर दिया, 'राजन ! जम्बुकारराय में पट्टनपुर (पाटन) नामक पुण्य क्षेत्र में जहां तुम्हारे यज्ञ से उत्पन्न चर्मरावती नामक गंगा के किनारे जम्बू मार्गेश्वर शिव विराजमान हैं, वहीं जाकर तुम मेरी आराधना करो। तुम्हारे ध्यानानुसार वहाँ मेरे दो सुन्दर विग्रह श्याम और शुभ्र इस नदी से प्रकट होंगे। श्याम विग्रह में तुम्हारी भी प्रतिमायें होंगी। उनकी सेवा कर अन्त में तुम मेरी उसी विग्रह में समाविष्ट हो जाओगे। राजारंतिदेव यह सुनकर कार्तिक कृष्णा अष्टमी को सपरिवार पाटन आए। नवमी को उन्होंने ऋषि मुनियों सहित परिक्रमा की व यज्ञ किया। फिर जल में फूलों की डालियां भगवान के आदेशानुसार बहाईं। वे जहां एकत्र हुईं वहां भगवान के दो विग्रह एक श्याम (वर्तमान चार भुजा जी) व दूसरा शुभ्र (श्री केशवराय जी) प्राप्त हुए जिन्हें राजा ने कार्तिक शुक्ला ११ शुक्रवार को पधराया तथा पूर्णिमा तक विशेष महोत्सव किया।

विक्रमी सं. १६६८ में जब शत्रुशल्य जी ने इन प्रतिमाओं को केशवराय जी का वर्तमान मंदिर बनाकर उसमें स्थापित किया तो इन की सेवा-पूजा के लिये ब्रजनाथ जी की पद्धति का वल्लभ संप्रदाय वाला विधान घोषित किया और अब तक इन की पूजा उसी ब्रजनाथ जी के विधान से चली आती है। जिसके अन्तर्गत मंगलआर्ती, स्नान, शृंगार, कीर्तन, कथा-पुराण श्रवण, शृंगार विसर्जन, राजभोग, शयन, उत्थापन, महाभोग, शृंगार धारणा, सांयकाल आरती, भजन कीर्तन, मृंगादिगान, व्यालू भोग, नर्तकियों का गान व शयन के कार्यक्रम दिनचर्या के रूप में व्यवहृत हैं यह क्रम प्रातः तीन बजे से रात्रि ६ बजे तक चलता है। इतिहास के अनुसार महाराणा हम्मीर (रणथम्भौर वाले) ने श्री जम्बुकेश्वर का रत्नों से पूजन कर राज महिषी सहित तुलादान किया था। यह राज्य बूँदी के अन्तर्गत आता है किन्तु बूंदी के रावराजा उम्मेद सिंह ने सं. १८०१ वि. में केशवराय पाटन तथा बरौंधन के परगने ब्रजनाथजी के भेंट कर दिये। बाद में यह स्थान मरहठों के अधिकार में चला गया जिसमें मालगुजारी के दस में छः हिस्से सिन्धिया लेता था और चार हिस्से होल्कर। इस समय यह बूँदी जिले में है।

इस प्रकार केशवराय पाटन आध्यात्मिक, पौराणिक व ऐतिहासिक महत्व की लोक नगरी है। ☐

☐

गौतमेश्वर

• श्री हिम्मत मालवीय

राजस्थान के दक्षिणी भूखण्ड गोडवाड में अरावली पर्वतमालाओं के बीच, पाली व सिरोही जिलों के मध्य पश्चिमी रेल्वे के दिल्ली-अहमदाबाद रेल मार्ग पर नाणा—(पंचायत समिति शिवगंज) स्टेशन से करीब १० किलोमीटर दूर प्रकृति की गोद में रमणीय स्थल पर बना एक मन्दिर है। मन्दिर में मीणा जाति के इष्टदेव और शौर्य के प्रतीक गौतमेश्वर ऋषि महादेव की प्रतिमा विद्यमान है। इस मन्दिर में शिल्पकला का अदभुत नमूना तो देखने को नहीं है, फिर भी सौन्दर्य की दृष्टि से यह बहुविख्यात है।

सूकड़ी नदी जिसे सब लोग पतित पावनी गंगा भी कहते हैं दाहिने किनारे की एक टेकड़ी (पहाड़ी) पर परकोटे से घिरा यह मन्दिर है जिसे सर्व प्रथम एक गूजर ने अपूर्ण बना कर छोड़ दिया था। उसके पश्चात मीणा जाति के लोगों ने इस मन्दिर का निर्माण कार्य पूर्ण करवाया व मन्दिर का प्रतिष्ठा महोत्सव भी सम्पन्न किया था।

चारों ओर विशाल परकोटे से घिरे तीर्थ-स्थल में विभिन्न देवताओं की प्रतिमाएं विद्यमान हैं। गौतमेश्वर ऋषि के मुख्य मन्दिर के श्वेत-शिखरों की झांकी यात्री को दूर से ही मिल जाती है। इस मन्दिर का परकोटा दूर से एक छोटा सा गढ़ प्रतीत होता है। मन्दिर में साधु-संतों के बैठने को एक बड़ी गैलेरी, भोजन शाला और मोदीखाना हैं।

मन्दिर का प्रवेश द्वार उत्तर दिशा में है और अन्दर प्रविष्ट करते ही दाहिनी ओर श्री गौतमेश्वर ऋषि महादेव का लिंगाकार है। उनके पीठ के पिछे बाईं ओर गजानन्द व अहेलिया, दाहिनी ओर अंजली, सम्मुख नन्देश्वर (नादिये) की प्रतिमाएं विद्यमान हैं।

मन्दिर के बाहर पीछे दाहिनी तरफ गौतमऋषि और बाई ओर अम्बाकालेमाता के छोटे-छोटे मन्दिर हैं। मुख्य मन्दिर के सम्मुख हनुमान, गणेश्वर, गजानन्द, धर्मराज, शनेश्वर भगवान आदि की प्रतिमाएं विराजमान हैं।

इस मन्दिर की प्राचीनता के प्रमाण तो अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं लेकिन लोगों का ऐसा अनुमान है कि यह मन्दिर हजारों वर्ष पुराना है। वैसे श्री लल्लूभाई देसाई द्वारा लिखित 'चौहान कुल कल्पद्रुम' (भाग प्रथम) में वि. सं. १६३२ के पूर्व भी यहां मन्दिर मौजूद बताया है। गौतमेश्वर मन्दिर के सम्बन्ध में अभी तक लिखित प्रमाण के अभाव में यह ज्ञात नहीं हो सका है कि यह मन्दिर किसने बनवाया, क्यों बनवाया व इसका नाम गौतमेश्वर क्यों रखा गया ?

इस तीर्थ-स्थल से तीन-चार पौराणिक दंतकथाएं जुड़ी हुई हैं। कुछ लोगों का यह मानना है कि श्री गौतम ऋषि ने इन पर्वतमालाओं में तपश्चर्या की है। गौतम ऋषि की कोई प्रतिमा नहीं हैं। लेकिन अहेलिया व अंजली की प्रतिमाओं का होना व मन्दिर को गौतमजी का मन्दिर नाम से सम्बोधित करना, यह प्रकट करता है कि इस स्थान से श्री गौतम ऋषि का सम्बन्ध रहा है।

एक अन्य दंतकथा के अनुसार गोंगमुआ नामक मीना, एक गूजर की मवेशी चराया करता था और जब वह मवेशी को लेकर अरावली पर्वतमालाओं में घुसता था तो उस समय एक गाय हमेशा उसके साथ हो जाया करती थी और शाम को वापिस लौट जाती थी। साल भर पश्चात गाय एक बछड़े को जन्म देती है और गोंगमुआ मीना बछड़े को लेकर गाय के पीछे-पीछे जाता है। गाय जाकर एक टेकड़ी की गुफा के पास रुक जाती है जिसमें एक ऋषि और दो महिलाएं निवास करती थीं। गोंगमुआ उनसे साल भर की गाय-चराई मांगता है। ऋषि ने उसको कुछ 'जौ' डाले। गोंगमुआ न जाने क्यों उन्हें वापिस डाल कर चला गया। ऋषि उसके भोलेपन को देख मुस्कराये। गोंगमुआ जब घर पहुंचा तो उसकी पत्नी की दृष्टि उसके कपड़े पर चमकती वस्तु पर पड़ी और पूछा कि यह क्या वस्तु है ? गोंगमुआ ने जब सारा वृत्तान्त सुनाया तो उसकी पत्नी ने कहा कि वह ऋषि नहीं ईश्वर का रूप हैं। गोंगामुआ वापिस पहुंचता है और ऋषि के चरण स्पर्श कर कहता है कि मैं अब आपकी सेवा में अपने आपको प्रस्तुत करता हूँ। वह तपश्चर्या में लग जाता है। ऋषि उसकी तपश्चर्या से प्रसन्न होकर पूछते हैं कि गोंगमुआ तुम क्या चाहते हो ? वह अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहता है कि एक तो मेरा नाम रोशन हो और दूसरे प्रति वर्ष मेरी जाति यहां पर एकत्रित हो। ऋषि ने कहा, ऐसा ही होगा। उसके पश्चात यहां प्रति वर्ष मेला भरने लगा जिसको लोग 'गोंगमुआ का मेला' कहते थे। जो आगे चल कर 'गौतम जी का मेला' नाम से पुकारा जाने लगा।

इसी दौरान गोंगमुआ की भक्ति से प्रभावित होकर एक गूजर ने यहां पर एक मन्दिर का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जिसे वह सम्पूर्ण नहीं कर सका। उसके बाद मीणा जाति के लोगों ने इस मन्दिर का कार्य पूर्ण करवाकर इसकी व्यवस्था का कार्य भार अपने ऊपर लिया।

यह मेला वशाख माह की मकर-संक्रान्ति के ६० दिन बाद १३ अप्रेल से १५ मई, ३० दिन तक चलता है। भंयकर अकाल के समय कुओं का पानी सूख जाता है पर यह उल्लेखनीय है कि मेले के प्रारम्भ होने के समय से गोतमेश्वर मन्दिर की सीढ़ियों के पास 'गंगा कुण्ड' नामक स्थान से प्राकृतिक रूप से पानी फव्वारे की भाँति वाहर आता है और लगभग तीन किलोमीटर के क्षेत्र में एक-दो फीट की खुदाई करने पर अपार मात्रा में मीठा पानी उपलव्ध हो जाता है। आने वाले यात्रियों का ही यह विश्वास नहीं है अपितु एक वास्तविकता है कि मेले के दिनों के अतिरिक्त-समय में ऐसा कभी नहीं होता।

मेले में मीणा लोग सिर पर लाल साफा जिसका एक पल्ला कानों पर लटकता हुआ, कमीज की जेव में रेशमी रूमाल, कानों में झेले, हाथ में फूंदकी दार छाता, एक पैर में चांदी का कड़ा, आदि पहिने हुए वड़े सज-धज के साथ मेले में आते हैं और एक दूसरे के गले में हाथ डाल कर वड़ी मस्ती से गौतमेश्वर के गीत गाते हैं।

मेला प्रारम्भ होने के दस दिन पूर्व से मीणे लोग शराब-मांस का सेवन वन्द कर देते हैं और मेले में किसी भी व्यक्ति को शराव पीकर घूमने नहीं देते। यदि कोई ऐसा कर लेता है तो उसे तत्काल मेले से दूर लेजाकर छोड़ दिया जाता है। साथ ही इस क्षेत्र में जुआ भी वर्जित है।

मन्दिर के वाहर एक कक्ष वना हुआ है जहां पर मीणों की पंचायत लगती है जिसका फैसला सर्वमान्य होता है।

इसी मेले के अवसर पर मीणा व अन्य जाति के लोग अपने अपने पुर्खों की अस्थियाँ सूकड़ी नदी में विसर्जित करते हैं।

मीणा लोग गौतमेश्वर को अपना इष्टदेव मानते हैं और इन्हें प्रेम से 'भूरिया वावा' व 'गौतम वावा' के नाम से सम्वोधित करते हैं। ये लोग कभी भी गौतमेश्वर की झूंठी कसम नहीं खाते। पहले राज-दरवार में भी जव मीणा गौतमेश्वर की सौगन्ध लेकर कोई वात कह देता था तो उसे सत्य माना जाता था। आज भी किसी-किसी को छोड़ गौतमेश्वर की झूठी सौगन्ध कोई नहीं लेता।

□

□

सकराय माता

• श्री बाबूलाल शर्मा
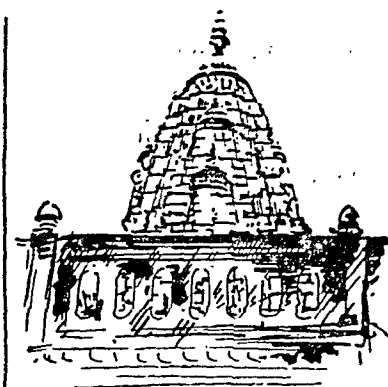
राजस्थान के सीकर जिले में, सीकर के पास सकराय माताजी का स्थान राजस्थान के प्रख्यात धर्म स्थानों में से एक है। माल केत नामक पर्वतमाला यहां आकर मंडलाकार हो गयी है। जिसके बीच बड़े-बड़े आम्र-तरुओं की शीतल छाया है और उनके बीच से शक्र-गंगा की पतली धारा बह रही है जो बीच-बीच के कुण्डों में आ कर विस्तृत भी हो जाती है। यहीं पर शक्र-गंगा के दाहिने तट पर सकराय-माता का भव्य मन्दिर है जिसका निर्माण विक्रम सम्वत १९७२–८० में हुआ। इससे पहले जो प्राचीन मन्दिर यहां था वह सं० १०५६ के लगभग बना था। यह शेखावाटी का प्राचीनतम तीर्थ-स्थल है। यहां वर्ष में तीन मेले लगते हैं—चैत्र व आसोज के माह के नवरात्रों में नौ-नौ दिन के और भाद्रपद में चार दिन का। सारे वर्ष में यहां लाखों की संख्या में यात्री आते हैं।

इस स्थान का पौराणिक वृत्तांत है कि यहां शक्र (इन्द्र) ने तपस्या की थी जिसके फलस्वरूप यहां बहने वाली जल धारा शक्र-गंगा के नाम से विख्यात हुई और यहां स्थापित जगदम्बा की प्रतिमायें शक्र-माता के नाम से जानी गयीं। बाद में शक्र-माता से ही सकराय-माता शब्द बन गया। इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने शंकरा-माता से सकराय-माता बताया है। ऐसा भी बताते हैं कि इधर से पाण्डव गुजरे थे। ऐसी और भी कतिपय दंत कथायें प्रचलित हैं। यह स्थान बहुत पुराना है जिसके प्रमाण स्वरूप यहां प्राप्त मन्दिर के जीर्णोद्धार सम्बन्धी तीन शिलालेखों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। यह अनुवाद १९३५ ई० में इतिहासज्ञ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जब यहां आये तब उन्होंने किया था।

सवसे पुराना शिलालेख सम्वत् ७४९ द्वितीय आषाढ़ सुदी २ का है। इसके आरम्भ में देवी जी की स्तुति है फिर इस मन्दिर का मण्डप वनाने वालों का परिचय है। मन्दिर का मण्डप वनाने वालों में सवसे पहले धूसर वंश के सेठ यशोवर्द्धन, उसके पुत्र राम, उसके पुत्र मण्डन तथा धरकर वंश के सेठ मण्डन, उसके पुत्र यशोवर्द्धन, उसके पुत्र गर्ग अनन्तर किसी दूसरे धरकर वंश के भट्टीयक, उसके पुत्र वर्धन, उसके पुत्र गणादित्य और देवल के साथ ही तीसरे धरकर वंशीय शिव, उसके पुत्र शंकर, उसके पुत्र वैष्णवाक, उसके पुत्र आदित्यवर्धन आदि के नाम हैं। इन सेठों ने मिल कर भगवती शंकरा देवी (सकराय माता) के सामने का मण्डप वनवाया।

दूसरा शिलालेख इस मन्दिर के उत्तरी भाग के वाहर लगा हुआ है। इस लेख के वीच का अधिकांश भाग विगड़ गया है। जिससे पूरा आशय नहीं मिलता। यह विग्रहराज चौहान के समय का प्रतीत होता है, इसमें वच्छराज तथा उसकी स्त्री दायिका के नाम पढ़े जाते हैं। वच्छराज विग्रहराज का काका था ऐसा हर्ष के शिला लेखों में पाया जाता है। इसमें शंकरा देवी के मन्दिर के जीर्णोद्धार का वर्णन है। अन्त में सम्वत् ५५ माघ सुदी पंचमी लिखा हुआ है। अनुमान है इसमें आरम्भ के दो अंक एका (१) तथा विन्दी (०) छोड़ दिये गये हैं। ठीक सम्वत् १०५५ होना चाहिये।

तीसरा लेख १०५६ सं० का है इस लेख का आशय इस प्रकार है, 'सम्वत् (१०५) ६ सावण वदी १ के दिन महाराजधिराज दुर्लभराज के राज्य के समय श्री शिवहरी के पुत्र तथा उसके भतीजे (भ्रातृव्यज) सिद्धराज ने शंकरा देवी का मण्डप कराया। काम किया सींवट के पुत्र आहिल ने जो देवी के चरणों में नित्य प्रणाम करता है। प्रशस्ति खोदी वहुरूप के पुत्र देवरूप ने।'

इस विवरण में दूसरे व तीसरे शिलालेखों के सम्वतों से अन्य अनुमान भी लगाया जा सकता है। जैसाकि दोनों सम्वतों में केवल १ वर्ष का अन्तर है जो जीर्णोद्धार के सम्वन्ध में ठीक नहीं जंचता। अतः अन्तिम दोनों शिला लेखों में से किसी एक का सम्वत् काफी प्राचीन होना चाहिये।

यहां प्रवन्ध हेतु नाथ पंथियों (कनफटे योगी) की गद्दी है। यहां के सर्वप्रथम नाथ पंथी मठाधीश श्री शिवनाथजी महाराज थे जिनके वारे में वताया जाता है कि काश्मीर के किसी महाराजा के पुत्र थे और अपने अन्य तीन भाइयों सहित सन्यास ले चुके थे। जव शिवनाथ जी यहां आये तो सकराय-माता की पूजा एक गुर्जर भोपा करता था, जिसका नाम जैला था। थोड़े दिनों में इन दोनों में मित्रता हो गयी और शिवनाथ जी महाराज यहां की पूजा करने लगे क्योंकि जैला को पूजा के लिये एक दूसरे गांव से आना पड़ता था। एक दिन दोनों भक्तों में एक दूसरे के चमत्कार की चर्चा चल पड़ी और इसी वात में शिवनाथ जी ने सिंह का रूप धारण किया। जव वे पूर्व स्थिति में आये तो उन्हें जीवन से पूर्ण विरक्ति हो गयी और उन्होंने जीवन-समाधि लेने का निश्चय किया। साथ ही उनके दस चेलों ने भी यही निश्चय किया; पर उनमें से एक को, जो यादव था

और पास ही के राजपुरा नामक ग्राम का निवासी था, माता जी के मन्दिर के प्रवन्ध हेतु छोड़ दिया। इसी वंश में आज तेईसवें महाराज यहां के मठाधिपति हैं। इन शिवनाथ जी के पद चिन्हों पर यहां देवालय वना हुआ है साथ ही होथयाज, राजपुरा व पुष्कर में भी इनके देवालय वने हुए हैं।

श्री शिवनाथ जी महाराज के वाद धूर्णीनाथ जी, दयानाथ जी, पृथ्वीनाथ जी, करणीनाथ जी, शिवनाथ जी (द्वितीय) के नाम मिलते हैं। जो सवसे महत्त्वपूर्ण नाम हैं वह है, तत्कालीन मठाधीश श्री वालकनाथ जी के गुरू गुलावनाथ जी का। ये वड़े ही सरल, स्वर-ज्ञानी, वहुश्रुत और व्यवहार कुशल महात्मा थे। इस स्थान को विशेष रूप से पुजवाने का श्रेय इन्हीं को है। इन्हीं के समय में लाखों की लागत से नवीन मन्दिर का निर्माण हुआ।

यहां श्री माता जी के मन्दिर के अलावा शक्र-गंगा के वाम कूल पर जय शंकर का मन्दिर है जो वहुत प्राचीन है। इसमें स्थित शिव-प्रतिमा, गुप्त कालीन है। यहीं एक मदनमोहन जी का मन्दिर है जो लगभग ५०० वर्ष पुराना है। यह और जय शंकर का मन्दिर लगभग एक ही ढंग के वने हैं। यहां माता जी के स्थान के अतिरिक्त लगभग डेढ किलोमीटर पर 'खो-कुण्ड' नामक स्थान है जहां ठण्डे पानी के कुण्ड हैं और आस-पास में चारों ओर आमों की घनी छाया तथा लाल कनेरों की वहार है। ऐसी किवदंती है कि यहां रावण ने तपस्या की थी और इसी नाम पर यहां रावणेश्वर महादेव का मन्दिर है। पहले यहां ८४ मंदिर थे पर अव केवल तीन शेष हैं।

यहीं से थोड़ी दूर पर नाग-कुण्ड है जहां पर विशेष रूप से नाग प्रतिमाए दर्शनीय हैं। इन स्थानों के अतिरिक्त थोड़ी-थोड़ी दूर पर टपकेश्वर और वाराहीमाता नामक स्थान हैं जहां पर अच्छे रमणीक दृश्य हैं।

इस तरह यह स्थान एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थान होने के नाते धर्म केन्द्र तो है ही साथ ही प्रकृति प्रेमियों का भी महत्त्वपूर्ण पर्यटन केन्द्र है।

□ □

औसियां

• श्री पन्नालाल बांठिया

राजस्थान के पश्चिमी सीमावर्ती जिले जोधपुर में एक प्राचीन गांव है, ओसियां। जोधपुर से ५८ किलोमीटर की दूरी पर स्थित ओसियां गांव रेल और सड़क दोनों से जुड़ा है। ओसियां को इतिहास में अंकेश, उरकेश, नवनेरी, मेलपुरपत्तन आदि कई नामों से सम्बोधित किया गया है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि ओसवाल वैश्यों का उत्पत्ति स्थान होने के कारण यह गांव ओसियां कहलाता है।

एक किवंदंती के अनुसार ओसियांनगर पहले समृद्ध लोगों का नगर था। जैन आचार्य श्रीरत्न प्रभसूरिजी ने यहां के लोगों को सत्य-अहिंसा आदि का उपदेश देकर जैन धर्म की शिक्षा-दीक्षा दी। ओसियां में ही एक चमत्कारी देवी का मंदिर भी था। जहां पशुओं की बलि दी जाती थी। बहुत बड़ी संख्या में देवी के भक्त जब अहिंसक होगये तो उसे पशुओं की बलि दी जानी कम हो गयी। देवी ने प्रगट होकर अहिंसक लोगों को कष्ट देना प्रारम्भ किया। आचार्यश्री ने देवी को यह कह कर संतुष्ट कर लिया कि उसे मांस-मदिरा आदि वस्तुओं के स्थान पर मीठे व्यञ्जनों का भोग चढ़ाया जाएगा और देवी तुष्ट हो गयी। तभी से ओसियां के देवी उपासकों ने उसकी पूजा चावल, लापसी, पुए आदि से करनी शुरु कर दी।

देवी के भक्तों की अन्यत्र भी कमी नहीं। मीठे व्यजन आदि लाकर वे भी अपने बच्चों के जडुले आदि देवी के ही उतारने लगे। ओसियां से वैश्यों का जो कुल बाहर आया वह 'ओसवाल' कहलाया। इस प्रकार ओसवालों की कुलदेवी 'सचिया माता' का मंदिर भी ओसिया में विद्यमान है।

प्राचीन मारवाड़ राज्य और वर्तमान जोधपुर जिले के वहुचर्चित गांव ओसिया में प्राचीन मंदिरों के भग्नावशेष यहां की पुरातन गाथा के एक मात्र आकर्षण हैं। यहां आठवीं शताब्दी के वने कोई १६ हिन्दू और जैन मंदिर हैं जिनमें शिव, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, अर्धनारीश्वर, हरिहर, नवग्रह, दिकपाल, श्रीकृष्ण, महावीर और देवी के अनेक रूपों की मूर्तियां दर्शन के महत्व की हैं। समय की धारा ने मूर्ति और मंदिर के वाह्य रूप को भले ही कम कर दिया हो पर इसमें छिपी अर्न्तशक्ति और चेतना अव भी ज्यों की त्यों है। कला का मूल्य उसके दर्शक से और मूर्ति का मूल्य उसके आराधक से जाना जाता है। पुरातत्व वेत्ताओं के अनुसार आठवीं-नवीं शताब्दी में राजस्थान की प्रतिहार कालीन पूर्व मध्ययुगीन कला के उल्लेख में ओसियां के प्राचीन देवालय अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में गुर्जर प्रतिहार युग का राजनैतिक इतिहास तो वहुत मिलता है लेकिन उस समय की मूर्ति-कला के विषय में अधिक नहीं लिखा गया। ओसियां का हरिहर मंदिर राजस्थान में अद्यावधिज्ञात 'पंचायतन शैली' का सर्व प्रथम मंदिर है जिसमें रचना की विविधता देखते ही वनती है। यहां मंदिर के दाहिने वाले लघु देवालय के वाहरी भाग में एक वारह हाथों वाली देवी की प्रतिमा है जिसका वाहन सिंह उसके पास वैठा चित्रित है। देवी ने नृत्य मुद्रा में शैवायुध धारण कर रक्खे हैं। वे दाहिने हाथ से मांग निकाल रही हैं तो वांये हाथ द्वारा पैर में नूपुर पहन रही हैं। इस में केश-विन्यास की स्थिति पर गोल दर्पण की विद्यमानता ने प्रतिमा के सौष्ठव में पर्याप्त वृद्धि की है। इसी हरिहर मंदिर के वाहरी अधिष्ठान के नीचे एक ताक में वद्धांजलि व पद्मासनस्थ देव प्रतिमा जड़ी है। आयुध या हिंसक चित्रण का यहां सर्वथा अभाव है। चार सहायक मंदिरों से युक्त यह मुख्य हरिहर मंदिर, पंचायतनशैली का भव्य उदाहरण है जो खजुराहो मंदिर-समूह की भांति ही ऊंची चौकी पर वना हुआ है। लेकिन दूसरी तरफ इस मंदिर के शिखर उड़ीसा शैली के प्रारम्भिक शिल्प को प्रकट करते हैं। हरिहर मंदिर में खुले स्तम्भ मंडप हैं, जिनका निचला भाग ढलवां और सुन्दर कलाकारी से युक्त है। हरिहर मंदिर में कला का शुद्ध रूप ही विशेषता का कारण है। प्रतिमा के परिप्रेक्ष्य में हरिहर मंदिर के पास ही त्रिविक्रम मंदिर के पार्श्व भाग में एक और चक्र पुरुष और दूसरी ओर शंख-पुरुष खड़े हैं, जो पूरी तरह योगनारायण भाव को अभिव्यक्त करते हैं।

ओसियां के इन मंदिरों के वाहरी भाग में श्रीकृष्ण लीला के भी कतिपय संदर्भ उत्कीर्ण हैं जिनसे इस युग में कृष्ण-भक्ति के महात्म्य पर प्रकाश पड़ता है। अभी तक यह तय नहीं हो पाया है कि ओसियां में इस विचारधारा को वढावा कैसे मिला। यहां रामायण कालीन एक भी झलक नहीं है जवकि गुर्जर और प्रतिहार तो भगवान राम के छोटे भाई के वंशज कहलाते हैं।

ओसियां में एक प्राचीन सूर्य मंदिर भी है जो यहां के मंदिर-समूह में सवसे अधिक आकर्षक है। इसका मुख्य प्रवेश दो ऊंचे स्तम्भों से युक्त है जो पूरी तरह पारम्परिक संरचना का आभास देता है। यह मंदिर भी पंचायतन शैली का है, जिसके चार सहायक मंदिर सालनुमा परकोटे से जुड़े हैं। यह परकोटेनुमा घेरा यात्रियों के विश्राम हेतु उपयोगी

रहता है । सूर्य मंदिर के स्तम्भों की फूल-पत्ती वाली वनावट देखते ही वनती है । गर्भ गृह के द्वार पर दोनों ग्रोर चतुर्वाहु ग्राकृतियां वनी हैं जिनमें श्रीकृष्ण ग्रौर वलराम के चित्र क्रमशः महत्वपूर्ण हैं ।

ग्रोसियाँ मंदिर-समूह का पूर्णतम उदाहरण यहां का जैन मंदिर है जो भगवान महावीर की प्रतिमा से युक्त है । इसे देख कर लगता है शायद यह मंदिर भी सर्व प्रथम ग्राठवीं शताव्दी में वना हो ग्रौर फिर उसमें कुछ परिवर्तन हुए हों । जैन मंदिर के मंडप, स्तम्भ ग्रौर तौरण ग्रर्थात् प्रवेश सर्वाधिक कला वैभव के साक्षी हैं जो हमें पूर्व-गुप्तकाल की याद दिलाते हैं । इसी ढंग का मालादे मंदिर हम ग्यारसपुर में भी देख सकते हैं ।

ग्रोसियां के मंदिरों में दो ग्रन्य मंदिर भी परिचय योग्य हैं जैसे पिप्पलाद माता का मंदिर ग्रौर सचिंया माता का मंदिर । ये मंदिर ग्राठवीं शताव्दी के तो नहीं हैं पर वारहवीं शताव्दी की वनावट वाले ग्रवश्य लगते हैं । ऊंची पहाड़ी पर परकोटे से घिरे सचिया माता के मन्दिर पर ग्रास पास के लोग वच्चों का मुंडन संस्कार कराने जाते हैं । सचिया माता ग्रोसवालों की कुल देवी है । ग्रोसियां के मन्दिरों के पास ही एक वड़ी वावड़ी है जो प्रतिहारकालीन कला-विकास का एक ग्रंग है ।

जीणमाता

• श्री सौभाग्यसिंह शेखावत

राजस्थान के लोक मान्य देवस्थानों में जीणमाता के मंदिर की विशेष रूप में परिगणना की जाती है। यह मंदिर राजस्थान के सीकर जिलान्तर्गत रेवासा ग्राम से दक्षिण की ओर आडावला गिरिमाला की उपत्यका में अवस्थित है।

जीणमाता तांत्रिक शाक्त पीठ है और वहां महिष, छाग आदि की बलि प्रथा प्रचलित है। जीणमाता का देवालय उत्तर, पश्चिम और दक्षिण तीन ओर से गिरिमालाओं से घिरा हुआ है। केवल पूर्व की ओर उन्मुक्त है। मंदिर में पूर्व और दक्षिण दोनों ओर द्वार हैं। किन्तु मुख्य प्रवेश द्वार पूर्व की ओर है। मंदिर का मुख्य भाग सभा मण्डप है जो पश्चिम की ओर झांकता है।

मंदिर के प्रमुख प्रवेश द्वार के सामने उत्तर दक्षिण गिरि पार्श्वों से आवेष्टित घाटीपथ है। यह दो-अढ़ाई फर्लांग लम्वा है है। यात्रियों, दर्शनाभिलापियों के लिए ंदिर में आवागमन का यही सहज मार्ग है। घाटी पथ के पार्श्व उभय भागों में तिवारे नुमी कोई एक सौ से अधिक पांथशालाएं है।

देवी की प्रतिमा अष्टभुजी है। प्रतिभा के सामने घृत और तेल के दो अखण्ड दीपक ज्योतित रहते हैं। प्रसिद्धि है कि यह दीपक-ज्योति व्यवस्था दिल्ली चौहान साम्राज्य से प्रचलित है। मुगलकाल में वृत और तेल भेजने की यह व्यवस्था दिल्ली से परिवर्तित

होकर आमेर राज्य द्वारा की जाने लगी। महाराजा मानसिंह प्रथम स्वयं बड़े देवी भक्त थे। आमेर में शिलादेवी का मंदिर भी उन्होंने ही बनवाया था। तदनन्तर तेल तथा घृत के स्थान पर चैत्र और आश्विन मास के उभय नवरात्र पर्वों पर निश्चित द्रव्य राशि भेजे जाने की व्यवस्था हुई जो राज्य की समाप्ति तक यथावत् प्रचलित रही।

जीणमाता के दर्शनों के लिए यों तो वर्ष भर यात्री आते जाते रहते हैं। किन्तु चैत्र और आश्विन मास के नवरात्रों में दो बार मेले आयोजित होते हैं। इन दिनों में प्रतिवेशी जन-मानस के अतिरिक्त बंगाल, बिहार, आसाम और गुजरात तक के दूरस्थ प्रान्तों के लक्षाधिक नर-नारी देवी के दर्शनार्थ आते हैं। विवाह की जात, बालकों के जडूले और मनौतियों की यात्राओं के निमित्त भी लोग आते हैं। यह क्रम प्रतिपदा से अष्टमी तक सतत् बना रहता है।

मंदिर में जगदेव पंवार का छिन्न मस्तक एक गह्वर में प्रतिष्ठापित है। यात्री उसको भेंट-पूजा अर्पित करते हैं। मंदिर से बाहर दक्षिणी पहाड़ी भाग पर भैरवनाथ का स्थान है। उसे कज्जल शिखर से इंगित किया जाता है।

भगवती जीण चौहान कुलोत्पन्न देवी है। और चौहान साम्राज्यकाल से ही सम्पूजित है। अजमेर, साँभर, रणथंभोर और ददरेवा आदि चौहान राज्य इस क्षेत्र में रहे हैं। वैसे मंदिर के निर्माण आदि के संकेत मंदिर में उत्कीर्ण शिला लेखों से मिलते हैं। मंदिर में कुल आठ शिला लेख लगे हुए हैं।

संवत् ११२१ वि० के शिला लेख में मोहिल के पुत्र हठड़ द्वारा मंदिर के निर्माण किये जाने का वृत्तान्त है। यह लेख महाराजाधिराज पृथ्वीराज प्रथम के समय का है। संवत् १२३० का लेख परम भट्टारक महाराजाधिराज सोमेश्वर के शासन काल का है। इसमें उदयराज के पुत्र अल्हण द्वारा देवालय के सभा मण्डप के निर्माण का उल्लेख है। संवत् १३८२ के अभिलेख में लोटाणी वंशीय देयति के पुत्र वीच्छा द्वारा मंदिर के जीर्णोद्धार का वर्णन है। इस प्रकार मंदिर का निर्माण बारहवीं शताब्दी में होना पाया जाता है।

देवालय की छतों और भीत्तियों पर बौद्धों, तांत्रिकों तथा वाममार्गियों की साधनाओं से सम्बद्ध अथवा प्रेरित अनेक विवस्त्र पाषाण प्रतिमाएं जटित हैं। मंदिर में मांस और मद्य का प्रयोग होता है। भीत्ति चित्र और पशु बली ये दोनों तथ्य मंदिर पर तांत्रिकों के अधिकार अथवा प्रभाव की साक्षी देते हैं। वर्त्तमान में देवी की पूजा-आरती का अधिकार पाराशर गोत्रीय द्विजों और चौहान क्षत्रियों का है। मंदिर के प्रबन्ध आदि से अवशेष राशि ये दोनों वर्ग परस्पर बांट लेते हैं।

पाराशर ब्राह्मणों का निवास अरण्य में स्थित 'माता जी का बास' नामक उप ग्राम में है। मंदिर के पाषाण जटित मार्ग के समाप्त होने पर अरण्य का विशाल क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है जो पुराने भूमि माप से चार पांच हजार बीघा में होगा।

मंदिर के समीप दो निर्झर हैं जो जल प्रवाह से मंदिर के घाटीपथ को सींचते रहते हैं। पहाड़ के अर्द्ध पर दो जल कुण्ड हैं और ऊपर समतल भाग पर जोगी तालाव नामक वड़ा तालाव है।

उल्लिखित देवालय से दो कोस पश्चिमोत्तर हर्षगिरि नामक वड़ा पर्वत है। यहाँ चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव) कालीन श्याम शिला पट्ट पर चौहान वंश प्रशस्ति अभिलेख है। वह लेख और हर्ष गिरि पर प्राप्त सैकड़ों खण्डित मूर्त्तियां सीकर संग्रहालय में संरक्षित है। पांचों पाण्डवों की आदमकद वड़ी भव्य प्रतिमाएं हैं। जीणमाता के मंदिर के स्थान पर भगवती जीण और हर्षगिरि पर हर्ष ने तपस्या कर सिद्धि प्राप्त की थी।

जीणमाता और हर्ष विषयक इतिवृत्त 'नीमराणा की ख्यात' में प्राप्त होता है। उसमें अजमेर के अधिपति अर्णोराज (आनो जी) के पुत्र गांगेव के इन्दु, चन्दु, हल करण और हर्ष नाम के चार पुत्र और जीण नामकी एक राजकुमारी थी। वह साक्षात् देवी का अवतार थी। चौहान चन्द्रिका' में इसी वात को कुछ प्रकारान्तर से अंकित किया है। वहीवंचों की वहियों में जीण के जन्म के विषय में अप्सरा के उदर से जन्म लेने की कल्पनापूर्ण सुन्दर कहानी गढ़ी गई है। किन्तु ये सव विवरण प्रमाणिक नहीं कहे जा सकते।

जीणमाता के जीवन-वृत्त का उद्घाटक एक लम्वा लोकगाथा काव्य मौखिक रूप में प्रचलित है। इसमें धांधू (वीकानेर) में हर्ष और जीण दो वहिन भाइयों का जन्म लेना वर्णित है। वाल्यकाल में माता का निधन और भावज के ताने से जीण का पितृगृह त्याग, भाई हर्ष का जीण को मनाकर वापस घर लौट चलने के आग्रह का वर्णन गीत में किया गया है। अन्त में जीण के किसी भी प्रकार घर लौटने के लिए सहमत न होने पर दोनों वहिन-भाइयों के तपस्या कर सिद्धि प्राप्त होने का उल्लेख है। जीणमाता के मंदिर के स्थान पर जीण ने और हर्षगिरि पर हर्ष ने तप-साधना से सिद्धि-लाभ किया था।

ऐतिहासिक सत्य जो कुछ भी रहा हो पर यह पूर्णरूपेण सत्य है कि विगत दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों से भगवती जीणमाता लोक-मानस की आशा-आकांक्षाओं की पूर्त्ति करती आ रही है। यह लोक-समाज की अति श्रद्धेया देवी है। उसके चमत्कारों के प्रति लोक में अपार श्रद्धा है।

डिग्गी

• श्री विजय कुमार

जयपुर नगर से लगभग ७५ किलोमीटर की दूरी पर स्थित डिग्गी नामक छोटे से नगर में कल्याण जी का मंदिर भारत के प्रमुख तीर्थ स्थानों में एक है। इस मंदिर का निर्माण मेवाड़ के राणा संग्राम सिंह के राज्य काल में संवत् १५८४ (सन् १५२७) के ज्येष्ठ मास की शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी को तिवाड़ी ब्राह्मणों द्वारा हुआ था।

प्रचलित कथा के अनुसार देवराज इन्द्र ने अप्सरा उर्वशी को उसके किसी अपराध से क्रुद्ध होकर स्वर्ग से निर्वासित कर दिया। उसे १२ वर्ष तक मृत्यु-लोक में रहने का दण्ड भी मिला। कुछ समय तक तो वह सप्त ऋषियों के आश्रम में रही तदन्तर उसने चन्द्रगिरि पर शरण ली। इस समय वह रात्रि में घोड़ी का रूप धारण कर के राजा डिग्व के उद्यान में क्षुधा शांत करती थी। इस से त्रस्त हो कर राजा ने यह आज्ञा प्रसारित कर दी कि जिस व्यक्ति के पास से घोड़ी निकलेगी वही इसे पकड़ ले। उसने घोड़ी सर्व प्रथम राजा डिग्व के पास से ही निकली। राजा ने इसका पीछा किया। घोड़ी पर्वत पर भागी और वहाँ पर सुन्दर रमणी का रूप भर लिया। मानवीय दुर्बलताओं से युक्त राजा देवलोक की अप्सरा के मोह जाल में फंस गये। उन्होंने उसे राजमहलों की शोभा बढ़ाने हेतु आमंत्रण दिया। उर्वशी ने राजा के प्रस्ताव को स्वीकार तो किया परन्तु एक चेतावनी भी दी कि दण्ड की अवधि समाप्त होने के पश्चात् जब राजा इन्द्र उसे लेने आयेंगे तब यदि राजा डिग्व उसकी रक्षा न कर सके तो वह उन्हें शाप दे देगी।

अवधि समाप्त होते ही इन्द्र उर्वशी को लेने आये और विष्णु की सहायता से स्वर्ग के राजा ने पृथ्वी के राजा को पराजित कर दिया। इस पर उर्वशी ने राजा को कुष्टि हो जाने का शाप दिया। तदनुसार उसे भयंकर कुष्ट रोग हो गया। विष्णु ने उधर इन्द्र की सहायता की लेकिन इधर डिग्व के कष्ट के निवारण का भी उपाय उन्होंने बतलाया। विष्णु

ने कहा कि कुछ समय उपरांत उनकी प्रतिमा समुद्र में वह कर आयेगी उस के दर्शन से अभिशप्त राजा का कष्ट निवारण हो जावेगा। कुछ समय पश्चात् सचमुच विष्णु प्रतिमा समुद्र में वहती हुई आयी जिसे वहीं पर उपस्थित व्यापारी ने वाहर निकाला। प्रतिमा के दर्शन से राजा तथा व्यापारी दोनों संकट से मुक्त हो गए।

अभी एक समस्या का निदान होना रह गया था कि विष्णु प्रतिमा को रखने का अधिकारी कौन होगा? तभी आकाशवाणी से निर्देश हुआ कि रथ में अश्वों के स्थान पर जो व्यक्ति प्रतिमा को ले जा सके वह उसको प्राप्त करने का अधिकारी होगा। प्रयासों के उपरांत व्यापारी प्रतिमा को न ले जा सका परन्तु राजा इस में सफल हो गये। राजा का रथ उस युद्ध स्थल पर जा कर रुक गया जहां इन्द्र-डिग्व संग्राम हुआ था। इसी स्थल पर राजा ने कल्याणरायजी के मंदिर की स्थापना कर दी।

मुख्य मंदिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा यद्यपि चतुर्भुज की विष्णु प्रतिमा है परन्तु श्रद्धालु गण 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' के अनुसार प्रतिमा में अपनी मान्यताओं के अनुसार अनेक देवताओं के रूपों का दर्शन करते हैं। मंदिर के विशाल पुजारी परिवार के एक सदस्य श्री राधेश्याम जी ने निबन्ध लेखक को बतलाया कि हिन्दू भक्त इस प्रतिमा में राम, कृष्ण, शिव तथा प्रद्युम्न के रूपों को पाते हैं वहां मुस्लिम लोग इसे 'कलंह पीर' के नाम से अभिनन्दित करते हैं।

मंदिर कला और पुरातत्व की श्लाघानीय कृति है। मुख्य मंदिर का निर्माण यद्यपि सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ था तथापि इसका समय-समय जीर्णोद्धार होता रहा है। मूल प्रासाद का कुछ भाग ही अब सोलहवीं शताब्दी की स्मृति को अपने में संजोये हुए हैं। इस भाग में प्रतिहार कला का विशेष प्रभाव है। अधिष्ठान अथवा वेदीवन्ध पर इस समय की अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाएं हैं जिनमें अधिकांश का स्वरूप समन्वयात्मक है, इनमें हरिहरपितामह, उमा महेश्वर, लक्ष्मी नारायण की प्रतिमाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मंडोवर पर अंकित सुर सुन्दरियों की प्रतिमाएं जहां नारी के मांसल सौन्दर्य का प्रतीक हैं वहां मिथुन-मूर्तियां लौकिक सुखों के चरमानन्द की ओर इंगित करती हैं। मंदिर में यत्र तत्र ९वीं तथा १०वीं शताब्दी की प्रतिहार कला शैली की प्रतिमाएं जड़ी हैं जिनमें शेषशायी विष्णु की प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रस्तुत देव भवन में मुगल कला का प्रभाव भी दृष्यमान है। ताज महल जैसी संगमरमर पर कुराई तथा मुगलिया महरावें मंदिर की शोभा में अभिवृद्धि करती हैं।

यों तो इस मन्दिर में प्रतिदिन भक्तों की भारी भीड़ रहती है परन्तु प्रति पूर्णमासी को मेला भरता है। वर्ष में तीन वहुत वहुत वड़े मेले लगते हैं। एक वैशाख पूर्णिमा को जो सबसे पुराना मेला है। दूसरा श्रावण मास की अमावस्या को जिसमें सर्वाधिक भीड़ रहती है। तीसरा मेला जल जूनी एकादशी अथवा श्रावण मास की इग्यारस को लगता है। ऐसे अवसरों पर कल्याण जी की सेवामें देश के कोने-कोने से भक्त लोग आते हैं।

☐ ☐
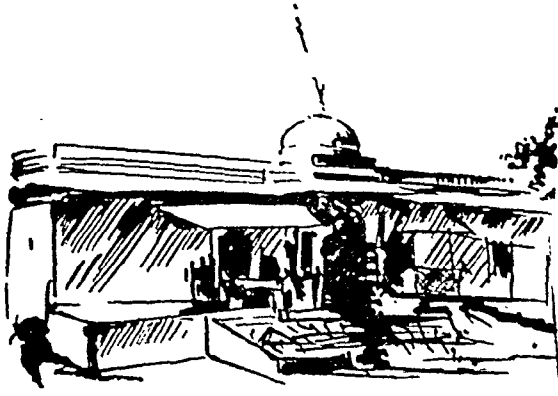
रणथम्भौर

० श्री महेन्द्र जैन

दिल्ली-बम्बई बड़ी रेलवे लाइन पर सवाईमाधोपुर जंक्शन है। यहां से छोटी लाइन की एक शाखा जयपुर होती हुई लोहारू पहुंचती है। श्योपुर (म. प्र.), टोंक, दौसा, गंगापुर आदि यहां से बस मार्ग द्वारा जुड़े हुए हैं। सवाईमाधोपुर शहर रेल्वे स्टेशन से तीन मील दूर पहाड़ियों से घिरा हुआ सुनियोजित नगर है। जयपुर नरेश सवाई माधोसिंह जी ने सन् १७५८ में रणथम्भौर दुर्ग जीतने पर इसे बसाया था। सवाईमाधोपुर से छः मील दूर घने जंगलों, पहाड़ों और घाटियों के बीच रिण नामक पहाड़ी के पास सीधे पर्वत थम्भ पर रणथम्भौर दुर्ग बना हुआ है। थम्भ पर्वत की सीधी ढलान के ऊपर ६ किलोमीटर वृत्त का दुर्ग पर परकोटा है। दुर्ग के उत्तर पूर्व में पहाड़ नहीं है अपितु एक घाटी है जो सैकड़ों फुट नीचे विशाल मैदान में परिवर्तित हो जाती है। यह मैदान सदियोंतक रणक्षेत्र रहा था। कई वर्ग मील में फैले इस रणक्षेत्र में अब भी मुगल कालीन स्थापना के नमूने, मस्जिदें और विश्राम स्थल आदि विद्यमान हैं। बहुश्रुति है कि आक्रान्ताओं की सेना के रक्तपात से वहा की मिट्टी लाल रंग की हो गयी है जो आजभी देखी जा सकती है।

दुर्ग के समीपवर्ती जंगल प्रसिद्ध आखेट स्थल हैं। जयपुर महाराजाओं द्वारा जंगल में स्थान स्थान पर आखेट के लिए पक्के होदे आदि बनाये हुए है। किसी समय यह वन असंख्य वन्य-पशुओं का संरक्षण-स्थल था जिसमें बबरशेर, चीते, भालू आदि थे किन्तु अब नाम मात्र को रह गये हैं।

सवाई माधोपुर स्टेशन से किले के द्वार तक पक्की सड़क बनी हुयी है। जहां तक जीप गाड़ी सरलता से पहुंच सकती है। वर्षा ऋतु में दुर्ग का मार्ग जल प्रपातों, हरियाली,

वन्यपशुओं के दर्शन आदि से अत्यन्त आकर्षक बन जाता है। मार्ग में मिश्रदरा, मोरकुण्ड, मोर दरवाजा, (प्रथम पोली), बड़ा दरवाजा (दूसरी पोली), बड़ा पद्मला तालाब आदि आते हैं। लगभग एक किलोमीटर चलने पर नौलखा दरवाजा आता है जो किले का मुख्य प्रवेशद्वार है। यहां से एक गुप्त मार्ग सीधा त्रैलोक्यमंदिर महलों में तथा दूसरा सिडियों द्वारा किले के भीतर ले जाता है। किले में पांच बड़े तालाब, गणेश जी का मंदिर शिव मंदिर, ऋषभदेवजी का जैन मंदिर, गुप्त गंगा, बत्तीस खम्भों की छतरी आदि दर्शनीय स्थल हैं।

प्रत्येक दर्शनीय स्थल का ऐतिहासिक महत्व है। तैरहवीं सदी का संध्या काल था। अलाउद्दीन के भाई उल्लू खां के दो सरदार मुहम्मदशाह तथा मीर गाभरू विद्रोही होकर हम्मीर की शरण में आ पहुंचे। हम्मीर को उनकी रक्षा के लिए भयंकर युद्धों का सामना करना पड़ा। हम्मीर ने उनको दो लाख रुपये वेतन, जागीर और भातृवत् सम्मान दिया। उल्लू खां इस समाचार से जलभुन गया। पचास हजार सेना लेकर वह रणथम्भौर पर चढ़ आया। पर उसे बुरी तरह हार कर मैदान छोड़ना पड़ा।

अलाउद्दीन से भाई की दुर्दशा नहीं देखी गयी। वह विशाल सेना लेकर युद्ध के लिए आया। उसने दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया तथा हम्मीर के पास संदेश भिजवाया कि वह उसका सम्मान करना चाहता है। मांडू, उज्जयिनी आदि की जागीरें उसे देने को तैयार है। किन्तु वह दोनों मीर भाई, राजकुमारी देवलदे, धारू नर्तकी, अनेक गढ़ और हाथी बादशाह की नजर करे।

हम्मीर के दरबार में, यहां तक कि रनिवास में भी बादशाह के प्रस्तावों का स्वागत होने लगा पर हम्मीर ने दो टूक 'नहीं' जवाब भिजवा दिया तथा अनेक सामान्तों के साथ सेना लेकर मुगल सेना पर टूट पड़ा।

मीर मुहम्मदशाह बड़ा तीरन्दाज और कुशल सेनापति था। हम्मीर एक दिन अपने सिंहासन पर बैठा नीचे मैदान में देख रहा था। मुहम्मदशाह भी वहीं था। तभी उसे बादशाह अलाउद्दीन अनेक छत्र धारण किए दिखाई दिया। उसने धनुषबाण हाथ में लिए पर हम्मीर ने उसे रोक दिया। फिर भी बादशाह के सातों राजछत्र उसने बाणों से काट डाले। वह बादशाह को उस समय मार भी सकता था पर हम्मीर ने ऐसा नहीं करने दिया।

हम्मीर की सबसे अधिक श्रद्धा गणेशजी में थी। गण देवता उसके गढ़ के देवता भी थे जो हर संकट में उसकी सहायता करते थे। सुल्तान कई दिनों तक भी जब दुर्ग को नहीं भेद सका तथा उसकी सेनायें परेशान होगयीं तो उसने रिण और थम्भ के बीच की खाई को लकड़ियों से पाटकर गढ़ पर पहुंचने का मार्ग बनाया। किन्तु लकड़ियों को हम्मीर के सैनिकों ने आग लगादी। सुल्तान ने खाई को अबकी बार रेत के थैलों से भरवाया और मार्ग तैयार कर लिया। हम्मीर के सैनिक घबराये किन्तु उसने गढ़ के देवता का ज्योंही स्मरण किया, ऐसा पानी आया कि सारी रेत बहगयी। गढ़ में आनन्द छागया।

किले में धारु नर्तकी का नृत्य इस प्रकार होता था कि उसे अलाउद्दीन मैदान से स्पष्ट देख सकता था। नृत्य की समाप्ति नर्तकी द्वारा अलाउद्दीन को पीठ दिखाकर होती थी। अलाउद्दीन के लिए हृदय जलाने को यह पर्याप्त था। आखिर मीर मुहम्मद के चाचाने जिसको अलाउद्दीन ने कैद में डाल रखा था तथा इसी शर्त पर छोड़ा था, एक ही तीर में पीठ दिखाते ही धारु को समाप्त कर दिया।

वर्षों तक युद्ध चला पर दुर्ग में सुल्तान की सेना प्रवेश नहीं कर सकी। हार कर सुल्तान ने संधि की बात चलायी। हम्मीर के दो विश्वस्त सेनापति रायपाल और रणमल संधि वार्ता के लिए गये किन्तु उन्हें सुल्तान ने प्रलोभन देकर अपनी और मोड़ लिया। रायपाल और रणमल अलाउद्दीन से वार्ता करके गढ़ में पहुँचे तो उन्होंने हम्मीर के क्रोध को बढ़ाने के लिए अनर्गल बातें बनादीं। हम्मीर ने सेना को तैयार रहने का आदेश दे दिया। दोनों ने प्रमुख भण्डारी से मिलकर दुर्ग में सुरक्षित रसद को तालाबों में फिंकवा दिया तथा इधर उधर करवा दिया। और अलाउद्दीन पर हमला करने के बहाने उसीसे जा मिले।

हम्मीर अपने प्रमुख सेनापतियों के विश्वासघात से आहत होगया। उसने प्रजा से पूछा, आपको रक्षा के लिए कहां पहुंचाऊं ?अपने दामाद देवड़ जाजा से कहा, तुम परदेशी पाहुणे हो, हमारे साथ क्यों व्यर्थ में कष्ट झेलते हो, अपने देश चले जाओ, तथा दोनों मीर भाईयों से भी सुरक्षित स्थान पर पहुंचा देने का उसने आश्वासन दिया। उसने अपने पुत्र वीरमदे से भी कहा कि वंश रक्षा के लिए कम से कम तुम तो कहीं सुरक्षित स्थान पर चले जाओ। किन्तु सभी ने बराबर से मरने-मारने का दृढ़ता पूर्वक संकल्प किया। मीर भाइयों ने तो यह भी कहा कि आप हमें सौंप कर गढ़ बचा लीजिए। पर हम्मीर अपने हठ पर अटल था। पाँचों वीर युद्ध के लिए तैयार होगये। उनके साथ एक भाट भी था।

हम्मीर का उत्साह बढ़ा किन्तु भण्डारों के खाली होने की सूचना ने उसे निर्बल बना दिया। उसने रनिवास में जौहर की खबर भिजवायी, वीरम को तिलक किया तथा केसरिया बाना पहन कर अपने शेष साथियों के साथ सबसे विदा मांगता हुआ रणक्षेत्र मे जाने को उद्यत हुआ। अपने भण्डारों की ओर जब वह गया तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि वे धन-धान्य से भरे पूरे थे। उसको गढ़देवता का स्मरण हुआ। पर वह केसरिया पहन चुका था।

मीर भाई, देवड़ जाजा और वीरम चारों घमासान युद्ध करते हुये काम आये। हम्मीर ने भाट को उनकी उचित अन्त्येष्टि के आदेश दिए तथा स्वयं असंख्य सेना का संहार कर दिल्ली दरवाजे के पास निर्मित शिव मंदिर में पहुँचा। वहां उसने अपने हाथ से अपना सिर काटकर शिव के चरणों में धर दिया।

दूसरी ओर गढ़ की समस्त नारियों ने महलों के पास बने अग्नि-कुण्ड में जौहर के लिए छलांग लगाली।

अलाउद्दीन विजयोल्लास में रायमल और रणमल के साथ गढ़ में पहुंचा। भाट ने प्रशस्ति के साथ पांचों वीरों के शव उसे दिखाये। उसने भाट से मुंह मांगा पुरस्कार देने को कहा। भाट ने मांग की, पांचों वीरों की उचित अन्त्येष्टि कराई जाए, विश्वासघातियों को उचित दण्ड दिया जाए तथा उसे मौत के घाट उतार दिया जाए। सुल्तान ने मीर भाइयों के शवों को दफनाया, अन्य राजपूतों की अन्त्येष्टिक्रिया की तथा राणा के शव को गंगा में ससम्मान प्रवाहित किया। रायमल और रणमल की जीते जी नख-शिख चमड़ी उतरवा कर उनके शव चील-कौओं को डलवा दिए तथा भाट की प्रार्थना पर उसे मरवा दिया। इस प्रकार स्वामीभमा भाट ने विश्वासघातियों से बदला लिया।

शिव मंदिर में आज भी पत्थर का बना हम्मीर का सिर, उसकी गदा तथा धनुष बाण आदि रखे हैं। जहां नारियों ने जौहर किया उस कुण्ड की गहराई में अब भी राख निकलती है। हम्मीर की प्रसिद्ध धुंआधार तोप, गुप्त गंगा के पास अब भी रण क्षेत्र की ओर मुंह किए खड़ी है जो हम्मीर के शौर्य और शरणागत वत्सलता की ज्वलंत सांक्षी है।

हम्मीर सभी धर्मों का आदर करता था। यही कारण है कि गढ़ में जैनमंदिर आदि भी हैं। वह स्वयं गणेश का परम भक्त था। गणेशजी ने उसकी रक्षा अनेकों बार की थी। रिद्धि-सिद्धि और भण्डार भरने वाले गणपति के चमत्कार जनता को आजमी आकर्षित किए हुए हैं। कौसों दूर से प्रत्येक विवाह की प्रथम कुंम-कुंम पत्रिका रणथम्भौर के गणेश जी को व्यक्ति गत रूप से पहुँच कर दी जाती है। जिस में गणेश जी से निवेदन किया जाता है कि वे विवाह में पधारें तथा भण्डारों को अक्षय रखें। प्रत्येक जीमण की रसोई में सर्व प्रथम भोग गणेशजी को लगाया जाता है। गणपति की यह पूजा प्रत्येक धर्मावलम्वी, प्रत्येक जाति व सभी वर्गों द्वारा समान श्रद्धा के साथ की जाती है। निर्विवाद रूप से कहा जाता है कि रणथम्भौर के गणेश उस विशाल क्षेत्र के लोक-देवता हैं।

प्रत्येक भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी (गणेश चौथ) को एक वड़ा मेला रणथम्भौर दुर्ग में भरता है। वर्षा ऋतु में हरियाली से युक्त पर्वत श्रेणियों का मनोहर दृश्य देखते ही वनता है। दुर्ग के खण्डहर आवाद हो जाते हैं तथा मीलों दूर तक चहल पहल नजर आती है।

गणेशजी के छोटे से मंदिर में भीड़ के कारण सहजतया नहीं पहुँचा जा सकता। कई घंटों के वाद गणेशजी की विशाल मूर्ति के दर्शन हो पाते हैं। लड्डुओं के ढ़ेर और गणेशवाहन स्वस्थ्या मूपकों की उछल–कूद भी वड़ी मनोहारी प्रतीत होती है।

मेले एवं ऐतिहासिक महत्व के अतिरिक्त रणथम्भौर दुर्ग एक पर्यटन केन्द्र भी है। तनिक भी ध्यान दिया जाए तो यह विदेशी सैलानियों का प्रमुख आकर्षण केन्द्र वन सकता है। पहाड़ों के पीछे ऐसी दुर्गम घाटियां, विशाल मैदान, दुर्ग रचना और सघन वनों की हरीतिमा अन्यत्र मिलना कठिन है। दुर्ग की प्राचीरों पर अंकित मुगल सेना के झुंझलाये अश्वों की नालों के चिन्ह तो पुराने इतिहास को आज भी दोहराते से लगते हैं तथा रोमांच उत्पन्न कर देते हैं। □ □

रणकपुर

• श्री वेदव्यास

सभी लोकतीर्थों की अपनी धर्मगाथा होती है लेकिन साहित्यिक कर्मगाथा के रूप क्षेत्र में 'रणकपुर' सबसे अलग और अद्वितीय है। रणकपुर गांव, राजस्थान के पाली जिले में अरावली पर्वत शृंखलाओं के मध्य दिल्ली-अहमदाबाद रेललाइन पर, फालना स्टेशन से लगभग २२ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। 'वीर विनोद' के अनुसार विक्रम संवत् १४९० में मेवाड़ के महाराणा कुम्भकुण अर्थात कुम्भा का इस क्षेत्र पर अधिकार था लेकिन आगे चलकर रणकपुर गांव मारवाड़ राज्य के अधीन रहा। राणाकपुर, राणापुर और रणकपुर के नाम से परिचित यह मंदिरमय गांव, महाराणा कुम्भा की कलारुचि का श्रेष्ठतम उदाहरण है। चितौड़ का कीर्तिस्तम्भ, कुम्भलमेर का किला, कुंभश्याम जी का मंदिर, अचलगढ़, बसन्तगढ़ का किला, एकलिंग जी का जीर्णोद्धार, महाराणा कुंभा की जीवन यात्रा के ऐसे बोलते पड़ाव हैं, जहां मूर्तियों के माध्यम से संस्कृति को जीवित रखा गया। संगीत, कला और साहित्य के पारखी, विद्वान महाराणा कुम्भा द्वारा प्रेरित एवं निर्मित सभी मंदिर प्रस्तर के हैं।

नागर शैली से अलंकृत ऊंची पीठ पर अवस्थित तथा सोनाणा और सेवाड़ी के पत्थर से प्रयोगित इन मंदिरों में गर्भगृह, सभामंडप, अर्धमंडप, प्रदक्षिणापथ एवं आमलक शिखर की प्रधानता है। जैन मंदिरों के निर्माण की दृष्टि से भी यह समय बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। सवंत् १४९६ की बात है जब पोरवाल-जातीय संघपति धरणाशाह ने ९९ लाख की लागत से एक तिमंजले चतुर्मुख जिनप्रासाद का निर्माण करवाया था। धरणाशाह भूतपूर्व सिरोही राज्य में नंदीपुर गांव के थे। वे समसामयिक राजनीतिक परिस्थितिवश बाद में 'मेरपाट प्रदेश' के अन्तर्गत मालगढ नामक गांव में रहने लगे थे। जब महाराणा कुंभा ने यह सुना कि धरणाशाह सपरिवार मालगढ में आ बसे हैं तो उन्होंने विश्वासपात्र सामंतों के माध्यम से धरणाशाह को राजसभा में बुलाकर अच्छा मान-सम्मान दिया।

कहते हैं जिनेश्वर उपासक धरणाशाह ने एक रात स्वप्न में 'नलिनी गुल्म' विमान देखा, और तभी उसने इस आकृति का जिनप्रसाद बनवाने की प्रतिज्ञा ली। दूर-दूर से चतुर शिल्पियों को बुलवाया गया और प्रारम्भिक रेखाचित्र तैयार किये गये। इनमें से मुंडारा गांव के देपाक नामक शिल्पविज्ञ ने 'त्रैलोक्य दीपक' नामी इस मंदिर का सही स्वप्न चित्र तैयार किया अतः उसे ही धरणाशाह ने प्रमुख कार्यकारी बनाया। धरणाशाह ने धूम-धाम से 'धरणा विहार' नामक चतुर्मुख आदिनाथ जिनालय की सवंत् १४९५ में नींव डाली जो सवंत १४९८ में पूरा हुआ। सेवाड़ी प्रस्तरों से बने इस मंदिर का चतुष्क ४८ हजार वर्ग-फीट का है जिस पर २४ रंगमंडप, १८४ भूगृह, ८५ शिखर और १४४४ सुन्दर स्तम्भ हैं। चार दिशाओं में प्रवेश के चार विशाल दरवाजे हैं जिनसे करीब २५ सीढियां चढ़ कर मंदिर की प्रथम भूमिका आती है। आदिनाथ त्रैलोक्य–दीपक मंदिर के सभी चार द्वारों के सग में एक बड़ा मंदिर है। इस प्रकार यहां के मंदिर समुदाय में ८४ देवकुलिकाएं (मठियां) हैं जिनकी निर्माण-साधना देखने के लिए दूर-दूर से असंख्य भक्त और पयर्टक आते हैं। 'सोम-सोभाग्य'-काव्य से पता चलता है कि रणकपुर के इस मदिर प्रतिष्ठान में धरणाशाह की कुमकुम पत्रियां पाकर कोई ५२ बड़े संघ और ५०० साधु आये थे। मंदिर के मध्य भाग में चतुर्मुख देव कुलिका है जिसकी जंघा पर बनी मूर्तियां बड़ी मनोरम हैं। स्त्री–मूर्तियां प्रायः नृत्यमय एवं कानों में कुंडल व हाथों में कंगन पहिने हैं। हाथवाली भैरव की मूर्ति के साथ-साथ यहां नानदेवी प्रतिमाएं और श्रृंगाररत नर्तकियों के रूप भी देखे जा सकते हैं। देवकुलिका के चारों तरफ रंग मंडपों में बांसुरी टेरती, घुंघरू बजातीं, नृत्य करतीं आठ पुतलियां और १६ नर्तकियां हैं। स्तम्भों पर हाथी, सिंह, घोड़े और फूल-बल अंकित हैं तथा इस 'त्रैलोक्य दीपक' मंदिर के पूर्वी कोण में धर्मानुरागी धरणाशाह की, हाथ में माला, सिर पर पाग (पगड़ी) और गले में उत्तरीय पहिने, मूर्ति है। साथ ही रणकपुर के इस विशाल मंदिर-समूह में देव प्रतिमाओं के अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण शिलालेख हैं जिनसे तत्कालीन इतिहास को जानने में मदद मिलती है। इतिहासज्ञ फर्गुसन के अनुसार 'उत्तरी भारत में कोई अन्य मंदिर ऐसा नहीं देखा गया है जो इतना सुन्दर और सज्जित हो।' कर्नलजेम्स टाड ने अपने 'पश्चिमी भारत के यात्रा वर्णन' में स्पष्ट रूप से रणकपुर के कलावैभव को देखने की तीव्र लालसा व्यक्त की है। ऐसा सर्वमान्य रणकपुर तीर्थ राजस्थान में गोडवाड़ क्षेत्र के पंच तीर्थों में (घाणेराव, नाडलाई, नकाडोल बरकांठा और रणकपुर) एक है। १७ वीं शताब्दी के 'हीर विजयसूरि' नामक कृति में तो यहां तक कहा गया है—

गढ़ आबू नवि फरसियो, नु सुणियो हीर नो रास।
राणकपुर नर नवि गयो, तिण्ये गर्भावास ।।

अर्थातः जिसने राणकपुर की यात्रा नहीं की उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है। इसी तरह समय सुन्दर जी के 'यात्रा स्तवन' के अन्तर्गत वर्णन मिलता है कि रणकपुर आदिनाथ प्रभु का पावन धाम है।

भगवान आदिनाथ का यह चौमुखा त्रैलोक्य दीपक मंदिर पहले सात मंजिल में बनने वाला था पर किन्हीं कारणवश न बन सका। यहां यह भी उल्लेखनीय होगा कि

मंदिर में विभुन्न जैन तीर्थ, तीर्थंकर और कला साहित्य के चित्रांकन के साथ-साथ मिथुन युग्म मूर्तियों का अंलकरण भी है, जो मानव प्रकृति के रागात्मक स्वरूप की अनुभूति सूचक सज्ञा की पोषक गीतिका है।

अन्य बातों के साथ ही इस भव्य मंदिर के निर्माता धरणाशाह के सम्बन्ध में एक रोचक किस्सा सुनने में आता है। कहा जाता है कि एक दिन धरणाशाह ने घी में पड़ी मक्खी को निकाल कर जूती पर रख ली। यह कृत्य किसी शिल्पी ने देख लिया। शिल्पियों ने सोचा कि ऐसा कंजूस भला कैसे इतना बड़ा जिनालय बनवा रहा है। परीक्षा लेने हेतु शिल्पियों ने नींव खोदते समय धरणाशाह से कहा कि नींव पाटने में सर्वधातुओं का प्रयोग होगा। नहीं तो इतना विशाल मंदिर केवल प्रस्तर की दीवारों पर नहीं ठहर पायेगा। धरणाशाह ने देखते-देखते अतुल मात्रा में 'सर्वधातु' एकत्रित करवादीं। इस पर शिल्पियों ने सोचा कि 'मक्खी' वाली घटना केवल कृपणता की परिचायक न थी अपितु सार्थक बुद्धिमता की द्योतक थी।

रणकपुर का यह मंदिर चतुर्मुख प्रासाद भी कहलाता है क्योंकि इसके चार कोणों में चार शिखरबद्ध देवकुलिकाएं हैं। चतुष्क ठीक बीचों-बीच में बना है। चार दिशा में चार मेघ-मण्डप हैं, चार रंग मण्डप हैं और प्रत्येक वेदिका पर चार दिशाई श्वेत प्रस्तर प्रतिमाएं हैं। या यों कहें कि इस मंदिर की हर प्रतिमा और खण्ड चतुर्मुखी है।

रणकपुर के इस मुख्य मंदिर से कुछ दूर पर प्रसिद्ध सूर्य मंदिर है जिसमें सर्वत्र सूर्य को सात घोड़ों पर सवार बतलाते हुए महाराणा कुम्भा द्वारा निर्मित माना जाता है (पर इतिहास इस संबन्ध में मौन है)। इसमें सूर्य के अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश और गणेश की मूर्तियों के साथ-साथ युद्ध रत हाथी समूह भी दर्शाये गये हैं।

इस प्रकार रणकपुर का यह अलौकिक मंदिर समूह महाराणा कुम्भा जैसे कला प्रेमी और धरणाशाह जैसे धर्मानुरागियों की यश-गंगा का पुण्य-तीर्थ है जिस पर भारत के धर्म जगत को ही नही; कला, संगीत एवं साहित्य के पथ बन्धुओं को भी गर्व है। मूलत: यहीं आकर राजस्थान की तत्कालीन सामंत शाही के 'उज्जवल पक्ष' पर प्रशंसा हेतु हम सबको एक मत होना पड़ता है। आज भी इस कला एवं धर्मतीर्थ पर असंख्य नर-नारी भगवान आदिनाथ की अर्चना कर अपने को धन्य समझते हैं।

□ □

नारायणी माता

• श्री रावत सारस्वत

सतियों और शूरवीरों की जन्मभूमि के रूप में राजस्थान देश भर में विख्यात रहा है। गांव-गांव में प्राप्त जूझारों की देवलियां और सतियों के थान इस विश्वास के साक्षी हैं। जबकि प्रायः शूरों-सतियों के पूजा स्थल गांवों के समीप ही प्राप्त हैं। अन्य ऐसे अनेक प्रसिद्ध स्थल भी हैं जो बस्तियों से दूर प्रकृति के मनोरम अंचल में स्थित हैं। ऐसा ही एक लोकतीर्थ है अलवर जिले की राजगढ़ तहसील में स्थित 'नारायणी' या 'नारायणी माता'।

सिरसका के सुरक्षित वन-विहार के समीप ही जंगलों से घिरे भूभाग में 'टहला' से आने वाले मार्ग पर 'वरवा' डूंगरी की तलहटी में सघन वृक्षों से घिरा हुआ नाराणी माता का मंदिर मेवात के अतिप्रसिद्ध स्थानों में से एक हैं। यद्यपि नारायणी माता का स्थान सभी सम्प्रदायों और वर्गों के लोगों का आराध्य-स्थल है पर नाई जाति के लोग इसे अपनी कुलदेवी मानते आए हैं। उनके विश्वास के अनुसार संवत् १०१६ में जयपुर जिले के 'मोरां' नामक स्थान के नाई विजयराम की पुत्री करमेती का विवाह अलवर जिले के राजोरगढ़ नामक पहाड़ी कस्बे के करमसी नामक व्यक्ति से हुआ था। जब करमेती अपने पति के साथ मोरां से राजोरगढ़ जा रही थी तो डूंगरी की तलहटी में विश्राम करने के लिए ठहरने पर उसके पति को सांप ने डस लिया। नववधू अपने मृत पति को सोया हुआ समझकर निश्चित बैठी रही। पर पास में ही पशु चराने वाले एक मीणा जाति के वालक ने उसे सांप के डसने की बात कही। इस हृदय द्रावक बात से तनिक भी विचलित न होकर करमेती ने मीणा वालक की सहायता से लकड़ियां एकत्रित कर चिता तैयार

की और अपने पति का शव गोदी में रखकर आग लगाली। इस घटना का सदेश मीणा बालक ने गांव वालों को दिया। तभी से करमेती का सती स्थल लोगों की श्रद्धा-पूजा का स्थान बन गया और वह कालान्तर में 'नाराणी माता' या 'नारायणी' के नाम से जानी जाने लगी। कहते हैं सती होते समय करमेती ने यह कहा था कि मीणा बालक ही मेरे स्थान की पूजा का अधिकारी होगा।

नाई जाति के श्रद्धालु भक्तों के इस लोक विश्वास की ऐतिहासिकता की परीक्षा करने का हमारे पास कोई निश्चित साधन नहीं है। जहांतक घटना के समय का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि नाराणी माता का मंदिर वास्तुकला की दृष्टि से नवीं-दसवीं शताब्दी के आस-पास निर्मित हुआ होगा। इसके स्थापत्य में गुर्जर प्रतिहार काल के बने अन्य मंदिरों की छाप स्पष्ट है। भक्तों ने मंदिर के अन्तरंग को साज-सज्जा की दृष्टि से काफी बदल दिया है, यह बहिरंग आकार शिखर तथा उत्कीर्ण शिलाखण्ड अभी मूल अवस्था में ही प्रतीत होते हैं। नाराणी माता के पास ही राजोरगढ़ की पहाड़ी पर स्थित प्राचीन शहर में कभी गुर्जर प्रतिहार मथनदेव का राज्य था जिन्होंने अपनी माता की स्मृति में वहां लच्छुकेश्वर महादेव का मंदिर संवत् १०१६ में बनवाया था। जयपुर राज्य की स्थापना से पूर्व ढूंढाड़ तथा मेवात के विस्तृत भू-भाग पर गुर्जर प्रतिहार शासकों का अधिकार रहा है अतः यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि नाराणीमाता का देव स्थल स्थापत्य की दृष्टि से गुर्जर प्रतिहार कालीन होना सम्भव है। नाराणी के सती होने का सम्वत् १०१६ भी राजोरगढ़ के ध्वस्त शहर की तत्कालीन समृद्धि का साक्षी है।

हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि यह देवस्थान किसी सती पर ही बना होगा। वैसे देवियों के नामों से भी मंदिरों के निर्माण होते आए हैं और नाराणी भी देवी के एक स्वरूप का नाम है। दुर्गासप्तशती के अन्तर्गत 'देवीकवच' में देवी को नारायणी नाम से भी अभिहित किया गया है।

रसे रूपे च गन्धे च शब्दे स्पर्शे च योगिनी ।
सत्वं रजस्तमश्चैव, रक्षेन्नारायणी सदा ।।

लोकविश्वास में कथित करमेती कब और कैसे नारायणी नाम से पुकारी जाने लगी कहा नहीं जा सकता।

एक आश्चर्यजनक सादृश्य तथा प्रमाण के आधार पर मीणा जाति की यह मान्यता भी विचारणीय है कि नाराणी मीणों की 'नाई' नामक उपजाति की स्त्री थी। इसके प्रमाण में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि मीणे ही नारायणी के पुजारी रहते आए हैं। अब भी पूजा का काम मीणों के ही सुपुर्द है। यदि नाई जाति की देवी होती तो स्वभवतः नाई ही उसकी पूजा करते। वैसे भी सामान्यतः मीणे पूजा आदि का कार्य नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में एक विवाद भी उठा था और उसे न्यायालय में भी प्रस्तुत किया गया था।

पर आज तो स्थिति यह है कि दूर-दूर से नाइ जाति के भक्त लोग नारायणी की यात्रा के लिए आते हैं और इस देवस्थान की देखभाल के लिए मुक्तहस्त से दान भी देते हैं। मंदिर में ऐसी दानदाताओं की विस्तृत सूचियां उत्कीर्ण करवाई हुई हैं। वैसे भी जहां-जहां हिन्दू नाई रहते हैं उन्होंने नाराणी माता का चित्र अपने आराधना स्थल में लगा रखा है। इसके विपरीत मीणों में इस विषय में कोई रुचि नहीं प्रतीत होती। हां मेले के अवसर पर वे हजारों की संख्या में नाचते-गाते पहुंचते हैं। इसका एक कारण उस स्थान का मीणा बहुल प्रदेश में स्थित होना भी है। मीणे स्वभावतः उत्सवप्रिय भी हैं और वे बिना किसी भेदभाव के हिण्डौन के पास श्रीमहावीरजी के मेले में भी इसी चाव से सम्मिलित होते हैं। मेवाड़ में ऋषभदेव (केसरिभाजी) के मेले में भील भी इसी प्रकार आते हैं। जंगली कबिलों की निश्छलता ही इसका प्रमुख कारण हो सकता है।

नाराणी माता का रमणीक स्थान प्रायः अर्द्ध गोलाकार में पहाड़ी से घिरा हुआ है तथा शेष अर्द्धांश में वृक्षादि हैं। मंदिर के छोटे से गर्भगृह के बाहर खुला सभामंडप भी खंभों पर टिका हुआ है, शायद बाद में बना हुआ है जो मूल मंदिर गर्भगृह के बाहर छोटे से सभामंडल वाला रहा होगा, जैसे कि दूसरे ऐसे ही मंदिरों के निर्माण में देखा जा सकता है। सभामंडप समाप्त होते ही एक संगमरमर का बना प्राकृतिक जल स्रोत वाला मध्यम आकार का होज है जिसमें तीन चार फीट तक अत्यन्त निर्मल जल भरा रहता है। कहते हैं यह जल स्वतः अज्ञात स्रोतों से आता रहता है और अतिरिक्त मात्रा में होने पर स्वतः प्लावित होकर निकलता रहता है। इस जल की यह विशेषता है कि यह सदा दर्पण की तरह उज्ज्वल धवल बना रहता है।

यह स्थान धार्मिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही पर प्राकृतिक रमणीयता की दृष्टि से भी अत्यन्त सुन्दर है। मंदिर के चारों ओर व्यवस्थापकों द्वारा लगाए हुए आम, केला, कचनार, केवड़ा आदि के वृक्षादि हैं। मंदिर के समीप ही अनेक आवासगृह बने हुए हैं जहां यात्री विश्राम एवं भोजन आदि कर सकते हैं। प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ला एकादशी के मेले के अवसर पर सभी जातियां और वर्गों के लोग माता के दर्शनार्थ आते हैं। वर्षा ऋतु में वन विहार करने वाले सैलानी भी यहां पर्याप्त मात्रा में आते रहते हैं। छुटपुट दर्शनार्थी तो वर्ष भर ही आते हैं।

'नारायणी' या नाराणी माता किसी धर्म संप्रदाय या जाति विशेष से सम्बन्धित भले ही मानी जाती हो पर वह वास्तव में लोकदेवी है और उसका स्थान एक सच्चा लोकतीर्थ जो प्रायः एक हजार वर्षों से भक्तजनों को आल्हादित और उनकी श्रद्धा को सुफलित करता आया है।

☐

☐
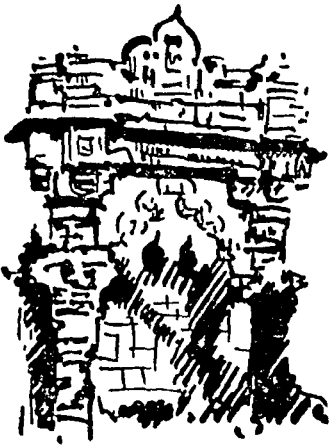
लोद्रवा

• डॉ केशरीमल 'केशरी'

भारतीय मरुस्थली में स्थिति सीमान्त जिला जैसलमेर की प्राचीन राजधानी लोद्रवा अपनी कला और संस्कृति के लिए पुरातत्वान्वेषियों के लिए एक महत्वपूर्ण स्थान है। जैसलमेर से पश्चिमोत्तर दिशा में १५ किलोमीटर दूर स्थित लोद्रवा प्रसिद्ध जैन-तीर्थ है। पुराणों में वर्णित प्राचीन काक नदी के सुरम्य तट पर स्थित यह नगर जैललमेर की स्थापना से पूर्व लोद राजपूतों की राजधानी थी। तक्षशिला और नालन्दा के समान ही लोद्रवा के प्राचीन विश्वविद्यालय की ख्याति दूर-दूर तक थी।

इतिहास से मालूम होता है कि भाटी देवराज की राजधानी पहले देवगढ़ थी। उसने लोद राजपूतों से यह नगर जीत कर स्वयं ने रावल की उपाधि धारण की और वि० सं० १०८२ में अपनी राजधानी देवगढ़ से लोद्रवा वदल दी। उस समय लोद्रवा एक समृद्धिशाली नगर था। कहते हैं कि उसमें प्रवेश के वारह वड़े-वड़े दरवाजे थे जिसके ध्वंसावशेष जैसलमेर के उत्तर-पश्चिम में दस मील के घेरे में आज भी विखरे पड़े हैं।

मोहम्मद गोरी द्वारा किये गए संहार से दूर तक फैला यह भव्य नगर आज खण्डहर मात्र रह गया है। यहां के प्रसिद्ध जैन एवम् वैष्णव मन्दिरों की इस आक्रमण में सर्वाधिक दुर्गति हुई थी और वे सर्वथा टूट-फूट चुके थे, जिनका वाद में समय-समय पर श्रद्धालु भक्तजनों द्वारा जिर्णोद्धार किया गया।

लोद्रवा मन्दिर के गर्भ द्वार से दाहिनी ओर २२" × २६" का एक शतदल पदम-युक्त मंत्र मंडित है जिससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में यहां सगर नामक राजा था जिसके श्रीधर और राजधर नामक दो पुत्र थे। जिन्होंने जैन धर्म अंगीकार कर श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान के मन्दिर का निर्माण करवाया, जो कालान्तर में राजकीय विप्लवों में नष्ट हो गया। इसके पश्चात श्रीभीमसिंह ने इसका पुनर्निमाण करवाया। समय के साथ-साथ इसके भी जीर्ण होने पर वि० सं० १६७५ में जैसलमेर निवासी धर्मवीर सेठ धीरूशाह भंसाली ने इस प्राचीन मंदिर की नीवों पर नए मंदिर का निर्माण करवाया,

जिसकी प्रतिष्ठा श्री जिनराज सूरि महाराज ने की। यही मंदिर आज देश के समस्त जैन मंदिरों से अनूठा, अपनी कला, सौन्दर्य और भव्यता की दृष्टि से अद्वितीय है।

यहां मंदिर के परकोटे में स्थित पांच देव मंदिरों में से मध्य का श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ भगवान का बड़ा मंदिर ही मुख्य है जिसमें मूल नायक की प्रतिमा श्याम वर्णीय एवम् रत्नजड़ित है। इस भव्य प्रतिमा के दर्शन कर भक्त जन असीम आनन्द एवम् शान्ति का अनुभव करता है। इस प्रतिमा के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि मंदिर के निर्माता श्री थीरूशाह जब सिद्धाचल की यात्रा से लौटते समय पाटन (गुजरात) से गुजरे तो उन्होंने वहां एक मूर्तीकार के पास इन दो भव्य प्रतिमाओं को देखा। वे मुग्ध हो गए। मूर्तीकार ने अपने जीवन के सर्वाधिक वर्षों को इन दो मूर्तियों के निर्माण में ही लगाया था। श्री थीरूशाह इन मूर्तियों के बराबर वजन की स्वर्ण-मुद्राएं देकर उन्हें लोद्रवा में प्रतिष्ठित करने हेतु खरीद लाए। जिस रथ पर ये मूर्तियां लाई गई थीं आज भी वह रथ इस मंदिर में विद्यमान है। किवंदंती प्रसिद्ध है कि प्रतिष्ठा के पश्चात इन मूर्तियों का अलग-अलग कोणों से भिन्न समय में दर्शन करने पर विभिन्न देव-रूपों के दर्शन भक्तजनों को हुआ करते थे। इस मूति में भगवान सहस्त्रनाग का छत्र धारण किये हुए हैं। मूर्ती की प्रतिष्ठा से आज तक बराबर एक जीवित काला सर्प वहीं मूर्ती के आस-पास विद्यमान रहता है जिसके हजारों श्रद्धालु जैन-श्रावक दर्शन कर चुके हैं। पुजारी द्वारा प्रतिदिन नागराज के लिए अलग से एक कटोरे में दुग्ध-पेय रखा जाता है जिसे नागराज आकर पान कर जाते हैं।

इस मंदिर की विचित्र एवम् भव्य बनावट अत्यन्त ही विलक्षण है। अन्दर की व्यवस्था आर्य शैली के अनुरूप है। प्रस्तर कला में सर्वत्र 'होरीजेन्टल थ्यौरी' का प्रचुर प्रयोग किया गया है। मकराने का यहां अभाव है। जैसलमेर के पीतवर्णी पाषाण में मंदिर की शोभा स्वर्णिम हो गई हैं। मंडप की छत 'पैनल्स' में विभाजित की गई है। प्रवेश द्वार के तोरण में इस कला का सौन्दर्य विशेष रूप से मूर्त हुआ है। कोरणी से स्तम्भ आदि प्रत्येक भाग में बारीक खुदाई का काम किया गया है। सौन्दर्य से भी अधिक इस मंदिर की मजबूती देखने योग्य है। मुख्य मंदिर के चारों कोनों पर चार छोटे-छोटे शिखर बंदी मंदिर हैं जिनका निर्माण थीरूशाह की पत्नी, पुत्र और पौत्र ने पुण्यार्थ करवाया था। जिस पर वि. सम्वत् १६७५ से १६६३ तक की तिथियां अंकित हैं।

इस भव्य मंदिर के पास समोशरण के ऊपर अष्टापद गिरी और उसके ऊपर कल्पवृक्ष की मनोहर रचना की हुई है। कल्पवृक्ष हालांकि इस मंदिर से ही जुड़ा हुआ है, किन्तु वह अपने आप में भव्य और सब से अलग इस मंदिर का मुख्य आकर्षण है।

इन मंदिरों के अलावा यहां पर देवी का मंदिर भी विख्यात है, जहां पर वर्ष में दो बार मेला लगता है। ऐतिहासिक किवंदन्तियों की प्रसिद्ध नायिका, नारी सौन्दर्य की देवी मूमल की मेड़ी आज भी जीर्ण अवस्था में पड़ी है। राजस्थानी लोक गीतों की नायिका मूमल और अमर कोट के राणा महेन्द्र मानो आज भी ऊंटनी पर सवार हो कर मरू के टीलों पर खड़े हो कर लोद्रवा की ओर निहारते हुए सिसकियां भर रहे हैं। यहां ऐसा लगता है। □ □
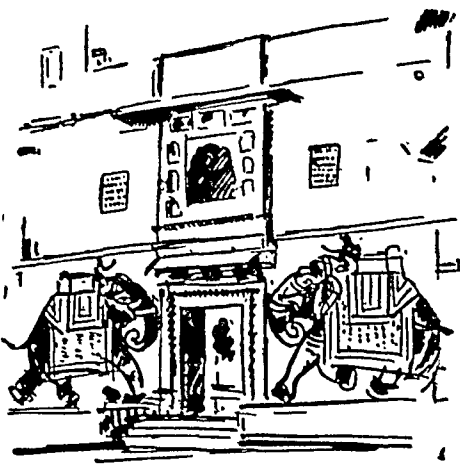
नाथद्वारा

• श्री ब्रजेन्द्र रेही

नाथद्वारा, उदयपुर से ४५ किलोमीटर दूर राष्ट्रीय मार्ग संख्या ८ पर स्थित पुष्टिमार्गीय वैष्णवों का प्रमुख तीर्थस्थान है। यहाँ पर भगवान श्रीनाथ जी का एक विशाल मन्दिर है जिसकी गणना देश के वैभवशाली मंदिरों में की जाती है। हजारों की तादाद में देश-विदेश से तीर्थयात्री यहां आते रहते हैं।

पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य थे जिन्होंने शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। पुष्टिमार्गीय कृष्णोपासक हैं। पुष्टिमार्ग में प्रभु अनुग्रह प्रमुख है। आचार्य वल्लभ ने राष्ट्रकी तात्कालिक संघर्षशील और संकटग्रस्त राजनैतिक, और सामाजिक परिस्थितियों को देखकर सामाजिक उत्थान और भारतीय जीवन दर्शन की पीयूषवर्षिणी धारा को प्रवहमान रखने हेतु पुष्टि-भक्ति का प्रचार किया। पुष्टि-भक्ति में सेवा ही प्रमुख है जिसे भक्ति का स्वर बताया गया है। इसमें आचार्य या गुरू प्रधान हैं। उनकी आज्ञा से ही जीव सेवामार्ग में प्रवृत्त होता है और भक्ति के लिए साधन जुटाता है। गुरू सब से पहले जीव को 'श्री कृष्ण ! शरणं मम:' के अष्टाक्षर मंत्र की दीक्षा देता है और इसके बाद उस मार्ग के गूढ़ रहस्यों को उसे अवगत कराता है। श्री कृष्ण की बाल लीलाओं की प्रधानता इस सेवा पद्धति में है। यहां मूर्ति की पूजा नहीं अपितु सेवा होती है और मूर्ति को 'स्वरूप' कह कर पुकारा जाता है। जिस प्रकार मां बच्चे की प्रातः से लेकर सांयकाल तक की बाल सुलभ चेष्टाओं को देखकर मुग्ध होती है और उसे सुख पहुँचाने वाले ही कार्य करती है; उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में भगवान श्री कृष्ण के विभिन्न स्वरूपों की सेवा की जाती है। इस सेवा पद्धति में सात प्रकार के दर्शन होते हैं जिन्हें मंगला, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, आरती, और शयन कहकर पुकारा जाता है।

नाथद्वारा का निर्माण संवत् १७२८ में श्रीनाथ जी के नाथद्वारा आगमन के पश्चात् हुआ। संवत् १७१५ में जब औरंगजेब भारत का सम्राट बना तो उसने हिन्दुओं के मन्दिरों और मूर्तियों पर प्रहार आरंभ कर दिये। मन्दिरों को तोड़ा जाने लगा और वहां स्थापित देव-प्रतिमाओं को खण्डित किया जाने लगा। संवत १७२६ के लगभग ये अत्याचार चरम सीमा पर पहुंच गये और उसने मथुराक्षेत्र के मन्दिरों पर अत्याचार ढाने शुरू कर दिये। ऐसी विषम परिस्थिति में वल्लभाचार्य के वंशज गोस्वामी दाऊजी महाराज भगवान श्रीनाथ के स्वरूप को लेकर जतीपुरा से रवाना हुए। बाद में विभिन्न स्थानों पर घूमते हुए नाथद्वारा से ढाई किलोमीटर दूर सिंहाड़ गांव में आकर रुके। मेवाड़ क्षेत्र के तत्कालीन शासक महाराणा राजसिंह थे जिन्होंने उन्हें शरण दी।

यहां यह उल्लेखनीय है कि श्रीनाथजी की यह प्रतिमा आचार्य वल्लभ को विक्रम संवत् १५३५ की वैसाख कृष्णा एकादशी के दिन गिरिराज पर्वत से प्राप्त हुई। उन्होंने वहां संवत् १५६४ में एक पक्का मंदिर बनवाकर इस स्वरूप की प्रतिष्ठा की थी।

नाथद्वारा अरावली की उपत्यकाओं से घिरा हुआ एक सुरम्य कस्बा है। सन् १९६१ ई० की जनगणना के अनुसार इसकी आबादी २५ हजार है। मंदिर की वर्तमान व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा गठित नाथद्वारा मंदिर मंडल के अन्तर्गत है जिसके अध्यक्ष वर्तमान तिलकायत, श्री वल्लभाचार्य के वंशज गोस्वामी श्री गोविन्दलाल महाराज हैं। तिलकायत शब्द का प्रयोग प्रथम पीठ होने के कारण परम्परागत ढंग से होता है। किन्तु मंदिर की परम्परागत व्यवस्थाओं में अब टूटन आ गयी है।

नाथद्वारा श्रीनाथजी का मंदिर एक विशाल मंदिर है। यहां जन्माष्टमी, फूल-डोल और दीपावली पर अन्नकूटोत्सव प्रमुख रूप से मनाये जाते हैं। इन अवसरों पर हजारों की संख्या में यहां तीर्थयात्री आते हैं। इतना ही नहीं नाथद्वारा में इसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध विट्ठलनाथ जी, नवनीत प्रियाजी, कल्याणरायजी, वनमालीलालजी, गोपाललालजी मदनमोहनजी एवं यमुना निकुंज जैसे अन्य मंदिर भी हैं।

नाथद्वारा चित्रकारी और मीनाकारी के लिए जगत विख्यात है। यहां चांदी पर मीना का काम बहुतायत से होता है, जो कुटीर उद्योग के रूप में पुष्पित और पल्लवित हो रहा है। नाथद्वारा की चित्रकारी नाथद्वारा स्कूल आफ आर्ट्स के रूप में जानी जाती है जिसकी अपनी अलग शैली है। यहां पर चित्रकारों का एक अलग ही मोहल्ला बसा हुआ है। इतना ही नहीं यहां पर लकड़ी के खिलौने और छपाई का काम भी कलात्मक ढंग से होता है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में निर्मित व्यजंन जो प्रसाद के नाम से जाना जाता है, अपने विशिष्ट स्वाद के कारण यात्री को जीवन पर्यन्त याद रहता है।

यहां पर लाल बाग, गणेश टेकरी, कछवाई रामबोला जैसे दर्शनीय व रमणीय स्थान भी हैं। पावस ऋतु में यहां की छटा मन को अनायास ही मोह लेती है। ☐ ☐
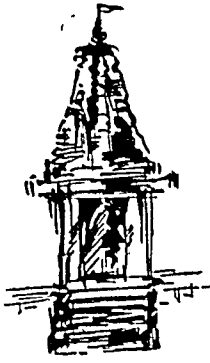
आबू पर्वत

• श्री महेश व्यास

भारत मे जितने भी लोकतीर्थ हैं वे या तो किसी नदी तालाब के किनारे होंगे या किसी पर्वत की चोटी पर। इसके पीछे वातावरण की पवित्रता का उद्देश्य रहा होगा ऐसा लगता है। आबू पर्वत भी ऐसा ही स्थल है जहां कई धर्म एक साथ विकसित हुए। पुराण, उपनिषद, महाभारत और जैन ग्रंथों में तो आबू को सर्वोत्तम पुण्यालाभा धराधाम कहा गया है। पद्मपुराण में उल्लेख मिलता है—हिमालय पर्वत के पुत्र अर्बुदाचल अर्थात आबू पर चला जाए, जहां पहले पाताल में जाने के लिए एक सुरंग थी तथा जहां महर्षि वशिष्ठ का लोकविख्यात आश्रम है। वहां यदि मनुष्य एक रात भी निवास कर लेता है तो उसे हजार गोदान करने का पुण्य होता है।

आबू पर्वत लगभग २२ किलोमीटर लम्बा और लगभग ६ किलोमीटर चौड़ा है। प्रकृति की अनुपम छटा से पूर्ण इस क्षेत्र के लिए इतिहासज्ञ अलक्जेंडर किनलॉक ने लिखा था—इस पर्वत क्षेत्र में केवल झाड़ियां हैं। मुनियों के देवालय में प्रतिष्ठित श्यामवर्ण मूर्ति हैं। इन्हीं मुनिवरों ने अचलेश्वर (अचलगढ़) के अग्निकुंड में से क्षत्रियों को उत्पन्न किया था। यहां वशिष्ठ देवालय में दिन में तीन वार पूजा होती है। यहीं पर आबू के वीर दनुजत्रासक धारावर्ष परमार की पीतल से वनी मूर्ति है। यहाँ के सवसे चमत्कारी शिखर पर अचलगढ़ दुर्ग वना है।

आबू समुद्रतल से लगभग वारहसौ उन्नीस मीटर की ऊंचाई पर है जिसकी सबसे ऊंची चोटी का नाम गुरुशिखर है। भूगर्भशास्त्री कहते हैं यहां पहले समुद्र था जो कालान्तर में हरी-भरी भूमि में वदला तथा ईसा से पच्चीस हजार वर्ष पहले पर्वतरूप में परिणत हुआ। परम्परा के अनुसार यह महर्षि वशिष्ठ का निवास स्थान है, जो बुद्धिवाद के प्रतीक हैं।

यहां अग्निकुण्ड की परम्परा यज्ञों द्वारा अनार्यों को शुद्धकर आर्य वनाने की प्रणाली से चली। गुरुशिखर का उल्लेख मेगस्थनीज ने भी ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व किया है। महाभारत में भी कहा गया है कि पृथ्वी में छेद इसी स्थान पर किया गया था।

प्रारम्भ में यहां शैवमत का प्रभाव था पर १०३२ईसवीं के वाद जैन मत का प्रभाव प्रारम्भ हुआ। परमार, चालुक्य, सोलंकी एवं वाघेला शासकों के अधीन आवू को रहना पड़ा था। २२ जून १८२२ ईसवी को कर्नल जेम्सटॉड ने इस क्षेत्र की खोज की। यह पहला अंग्रेज था जो आवू का पहला परिचय दे पाया। भारत के स्वतन्त्र होने के वाद आवू सवसे पहले वम्वई सरकार के आधीन रहा, किन्तु राजस्थान की जनता के ऐतिहासिक आंदोलन के वाद १ सितम्वर १९५६ को राजस्थान में मिला दिया गया।

आवू, मंदिरों का गृह और कला का केन्द्र है। पश्चिमी रेल्वे की अहमदावाद-दिल्ली रेल लाइन पर आवू रोड़ स्टेशन से यह पर्वतीय-स्थल लगभग उनतीस किलोमीटर की घुमावदार चढ़ाई पर है।

मुख्य पर्वत पर अर्वुद देवी का मंदिर है जो पहाड़ की एक गुफा में वना है। यह कभी आर्य वुद्धिवादियों का विचार स्थल रहा वताते हैं। आवू शहर से ८ किलोमीटर दूर प्रसिद्ध अचलगढ़ है जहां अचलेश्वर अर्थात शिव मंदिर, मंदाकिनी कुंड, कपूर सागर आदि हैं। कहते हैं यहीं एक वार राणा कुम्भा ने शरण ली थी। अचलगढ़ में जैन मन्दिर है जिनमें शांतिनाथ, नेमिनाथ और चौमुखजी के मन्दिर प्रमुख हैं। यहीं पास में भर्तृहरि गुफा व ओरियां का शैव मन्दिर है। जहां १४ वीं शताब्दी में रामानन्दजी ने भक्ति-आंदोलन का प्रारम्भ किया था। आवू शहर से ही ५ किलोमीटर दूर वशिष्ठाश्रम है जहां एक गोमुख से कुंड में जल गिरता है। यह मंदिर चन्द्रावती के चौहान राजा कान्हड़देव की देखरेख में वना था। यहीं पर है राजपूतों का उत्पति स्थल अग्निकुंड। वशिष्ठ आश्रम के पास ही व्यासतीर्थ, नागतीर्थ और गौतम आश्रम है। यहीं नागकुंड से उत्तंगमुनि तक्षक का पीछा करते हुए पाताल तक गये थे। तव से अव तक यहां प्रतिवर्ष नागपंचमी को मेला भरता है।

यहीं है विश्वप्रसिद्ध दिलवाड़ा का जैन मंदिर समूह। यह पांच मन्दिर संगमरमर के वने हैं। विमलशाह द्वारा निर्मित आदिनाथ का जैन मन्दिर है जिसे सन् १०३१ में मन्दिरों की भुवनेश्वर प्रणाली पर वनाया गया था। इस मन्दिर में आकर्षक कलाकृतियां एवं आदिनाथजी की मोतीनयना अभिराम मूर्ति ही वेजोड़ दर्शन की प्रतीक है। मंदिर के ठीक सामने अश्वारूढ़ विलमशाह की मूर्ति है। समूह का दूसरा वैभवपूर्ण मंदिर वस्तुपाल व तेजपाल का है जिसे नेमीनाथजी (२२ वें तीर्थंकर) या लूणवसहि का मंदिर भी कहा जाता है। इसकी रचना शोमनदेव शिल्पी ने की थी। इसके अतिरिक्त यहां देराणी–जेठाणी मंदिर भी आकर्षण का स्थल है। कर्नल जेम्स टॉड के अनुसार–'भारत में इन मंदिरों की सुन्दरता का मुकावला केवल ताजमहल ही कर सकता है।

इस पर्वत प्रदेश पर यज्ञेश्वर हैं। तीन मढियां जिन्हें कुंआरी कन्या का मन्दिर भी कहते हैं। यहीं कनखल (महावीर स्वामी का मन्दिर), भगवान दत्तात्रेय का स्थान, कृष्णतीर्थ और रामगुफा भी हैं। इन सबके अतिरिक्त यहाँ का मुख्य पर्यटन स्थल है नक्कीझील जहां नित्य शाम को यात्रियों का मेला सा जुड़ता है।

लोकसाहित्य एवं लोकआख्यानों में आबू तीर्थ की महिमा नानाविध वखानी गई है। गीतों में इसे सुरम्य प्रकृति की रंगशाला के रूप में चितेरा गया है। राजस्थान का एक प्रसिद्ध लोकगीत 'मोर बोले रे मलजी आबूरा पहाडां में' इस बात का साक्षी है। यहां के दोहों में आबू की छटा गाते ही वनती है,

ट्रकै-ट्रकै केतकी, झिरणै-झिरणै जाय।
अरवुद की छवि देखतां, और न सालैदाय॥

इस प्रकार पर्वतराज आबू पुरातत्व, धर्म एवं दर्शन का ऐसा प्रकृति स्थल है जहां शिव, पार्वती, आदिनाथ, नेमिनाथ, गौतम और वशिष्ठ सब की पावनता एकसाथ मुखरित है। राजस्थान का यह लोकतीर्थ वर्णन की सीमा से परे का विषय है। यहां किसी एक दिन यात्री न आकर वर्ष भर आते रहते हैं। गुजरात और राजस्थान का सैलानी केन्द्र पर्वतराज आबू परम्परा का अद्वितीय प्रसंग तथा लोकजीवन का अनुपम तीर्थधाम है।

□

□

गलताजी

• श्री सत्यप्रिय नागर
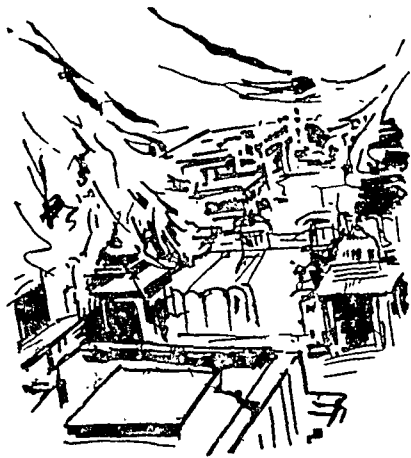
नगर के कोलाहल से दूर पहाड़ियों के अंचल में स्थित, प्रकृति के आकर्षक परिवेश से सुसज्जित जयपुर नगर के पूर्व में मैदानी धरातल से लगभग ३५० फीट ऊपर तथा मुख्य नगर से लगभग साढ़े चार किलोमीटर की दूरी पर एक रमणीक तीर्थ स्थान है, जो 'गलताजी' कहलाता है। जयपुर नगर से गलताजी का सामान्य मार्ग सूरजपोल होकर जाता है। सूरजपोल अथवा गलता दरवाजा से बाहर निकलने पर लगभग डेढ किलोमीटर चलने के बाद पर्वत की बड़ी-बड़ी श्रेणियां हैं जो गलता जी की पहाड़ियां कहलाती हैं। इन्हीं पर्वत श्रेणियों के पास एक ओर द्वार बना हुआ है। जयपुर नगर से इस द्वार तक पक्की सड़क बनी हुई है। सड़क के अन्तिम छोर से ही पर्वतों के बीच एक घाटी आरम्भ होती है जो गलताजी की घाटी कहलाती है। यही घाटी सर्पाकार चलती हुई गलता-कुण्ड तक चली गई है।

यह पुण्य स्थली गालव ऋषि की तपोभूमि होने के कारण गालवाश्रम के नाम से भी प्रसिद्ध है जिसका अपभ्रंश लोक नाम गलता हो गया। गालव ऋषि ने १५ शताब्दी पूर्व इस सुरम्य-शान्तस्थली को तपस्या के अनुकूल पाकर अपनी तपोभूमि बनाया था।

गलताजी चारों ओर से ऊंची-ऊंची पर्वतमालाओं से घिरा हुआ अत्यन्त रमणीय स्थान है। इसमें प्रसिद्ध आठ कुण्ड हैं जिनके नाम हैं—यज्ञ कुण्ड, करम कुण्ड, चौकोर कुण्ड, मर्दाना कुण्ड, जनाना कुण्ड, बावरी कुण्ड, केले का कुण्ड और लाल कुण्ड। इन सब में बड़ा और प्रधान कुण्ड मर्दाना कुण्ड है। गलता जी के इस बड़े कुण्ड में संगमर-मर का एक गौमुख झरना निरन्तर गिरता रहता है। गौमुख से पड़ने वाली इस जल-धार के उद्गम स्रोत का पता आज तक भी नहीं चल पाया है। अतीत काल से यह जल-धार अहर्निश निर्बाध रूप में गौ मुख से कुण्ड में गिरती चली आ रही है। यह

जल-धार गंगाधार मानी जाती है। ऐसी लोकोक्ति है कि गालव मुनि की तपस्या से प्रसन्न हो कर गंगा यहां प्रकट हो गई जो आज भी नियमित प्रवाह में हैं।

वहुत पहले की वात है जव एक वार जयपुर के महाराजा शिकार खेलते हुए पर्वतांचल में स्थित ऋषि के आश्रम की ओर आ निकले। इस आश्रम के समीप साधु-महात्मा सिंह का रूप धर कर पर्वतों पर विचरण करते थे। राजा ने एक सिंह पर गोली चलाई जो सिंह के पिछले पांव में लगी और यहां रक्त की धार ह वनिकली। उसी समय यह सिंह अपना रूप छोड़ कर एक महात्मा के वास्तविक रूप में प्रगट हुआ और राजा से कहा—'राजन्! आपने इस आश्रम की ओर शिकार खेलने की हिम्मत कैसे की? इसके फजस्वरूप आपको कुष्ठ रोग हो।' यह शाप दे कर वह महात्मा गायव हो गये। कहते हैं कि वही गालव ऋषि थे। राजा अपने महलों में लौट गया किन्तु उसी दिन से वह कुष्ठ रोग से ग्रसित हो अधिकाधिक पीड़ित रहने लगा। सभी उपचार करवाने पर भी राजा को रोग से छुटकारा न मिला। दुःखित हो कर राजा अपने कुछ साथियों के साथ महात्मा की तलाश में उसी आश्रम की ओर चला। अत्यन्त प्रयत्न के वाद महात्मा एक पर्वत की गुफा में समाधिस्थ मिले। समाधि के वाद राजा ने प्रार्थना की—'हे प्रभो! मैं अनजान में अज्ञानता वश इधर आखेट खेलने चला आया था। मेरा अपराध क्षमा कीजिये और कृपया इस रोग से मुक्ति का कोई उपाय वताइये।' दयावान महात्मा ने राजा से कहा—'राजन! इस स्थान पर एक पक्का आश्रम और इसमें एक विशाल कुण्ड वनवा दीजिये मैं उस कुण्ड में गंगा की एक जल-धारा ला दूंगा। वह जल-धारा जव तक संसार रहेगा, तव तक कभी वन्द न होगी। उसी गंग-धार में स्नान करने से तेरा कुष्ठ रोग जाता रहेगा और जो कोई उसमें श्रद्धापूर्वक स्नान करेगा या जल का आचमन करेगा वह पापों से मुक्त हो कर मोक्ष को प्राप्त होगा।' राजा ने ऐसा ही अनुसरण किया और उसका कुष्ठ रोग जाता रहा।

गलताजी के जनाने कुण्ड के दक्षिण की ओर एक छोटी पहाड़ी पर महात्मा पियाहारी की गुफा है। गुफा के द्वार पर महात्माजी का एक चित्र कांच में जड़ा हुआ है। यह गुफा कोसों दूर तक चली गई है। कहते हैं, इस गुफा का पता लगाने के लिये एक वार कुछ साधु इसमें घुस गये थे। उनका वाद में कुछ भी पता न लगा। तव से इस गुफा का द्वार राज्य की ओर से सदैव के लिये वन्द कर दिया गया। महात्मा पियाहारी जी के चित्र के सामने पूर्व ज़यपुर राज्य की ओर से अखण्ड धूनी लगी रहती थी जो कभी नहीं वुझती थी। पियाहारी जी एक वड़े तपस्वी और पहुँचे हुए महात्मा हुए हैं। कहते हैं कि इनकी तपस्या के वल से सिंह और गाय एक घाट पर पानी पीते थे और इनकी आंख का इशारा पाते ही वड़े-वड़े हिंसक जन्तु भी इनके पांवों पर लोटने लगते थे। ये परम योगी महात्मा संत कवि नाभा जी के शिष्य थे। जयपुर के भूतपूर्व महाराजा ईश्वरी सिंह जी इनके पूर्ण भक्त थे और उन्होंने इनसे कई योग-सिद्धि की वातें सीखी थीं। महात्मा पियाहारीजी वहुवा सिंह वेश में घूमते सुने गये हैं।

गलता तीर्थ तपस्वी महात्माओं के लिए सदैव से प्रसिद्ध रहा है। किवंदन्तियों के अनुसार यहां कई बार पर्वतों की लुप्त गुफाओं में साधु-महात्मा तपस्या करते हुए पाये गये हैं। कहा जाता है कि सन् १९१७ ई० में जब गलता के मर्दाना कुण्ड की छंटाई और खुदाई हुई थी, तब उस समय कुण्ड के अन्दर एक तिवारा निकला था, जिसमें सात साधु तपस्या करते हुए दिखाई दिये थे किन्तु क्षण भर में वे विलीन हो गये।

गलता की प्रमुख पहाड़ी पर, जयपुर नगर के ठीक सामने पूर्व दिशा की ओर सूर्य भगवान का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। यहां से जयपुर नगर का दृश्य अत्यन्त ही मनोहारी दीख पड़ता है। मन्दिर में सूर्य भगवान की स्वर्ण प्रतिमा है। प्रति वर्ष माघ शुक्ला सप्तमी (सूर्य सप्तमी) के दिन यहीं से सूर्य भगवान का रथ निकलता है। उस दिन यहां विशाल मेला लगता है। सूर्य की स्वर्णमूर्ति एक विशाल चांदी के रथ में विराजमान कर उसकी शोभा यात्रा निकाली जाती है। गलता जी के सूर्य मन्दिर से लेकर नगर में त्रिपोलिया द्वार तक बड़ा भारी मेला रहता है। रथ पुनः घूम कर अपने मन्दिर में चला जाता है। सूर्य मन्दिर की स्थिति ऐसी उत्तम है कि मुख्य जयपुर के निवासी जब प्रभात की वेला में उठ कर सूर्य की ओर दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानों सूर्य ठीक उसी सूर्य मन्दिर में से निकल रहा हो। सूर्य मन्दिर के अतिरिक्त गलता तीर्थ स्थित अन्य मन्दिरों में एक प्रमुख मन्दिर महादेव जी का भी है।

गलता तीर्थ पर सूर्य सप्तमी, राम नवमी, निर्जला एकादशी, तथा जल झूलनी एकादशी के दिन बड़ेभारी मेले लगते है व यहां सहस्त्रों यात्री आते हैं। चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण और पर्व स्नानार्थ बड़ी भीड़ रहती है। चतुर्मास में तो यहां की छटा निराली ही होती है। श्रावण शुक्ला प्रतिपदा से पूर्णिमा तक यहां बराबर मेला लगा रहता है। सैकड़ों नर-नारी प्रति दिन यहां आते हैं और 'गोठ' या दावतें किया करते हैं। श्रावण में यहां बन-सोमवारों का मेला देखने योग्य होता है।

सुबह होते-होते ही श्रद्धालु भक्तों की भीड़ 'नरबदे हर' 'हर-हर गंगे' का उच्चार करते हुए कुण्ड के पवित्र जल में स्थान करने लगते हैं। कुछ लोग कुण्ड के उस शीतल एवं स्फटिक जल में तैरते हुए गौमुख से प्रवाहित जल-धार के नीचे खड़े हो कर झरने का आनन्द लेते हैं और 'हर हर महादेव' का उच्चार करते जाते हैं।

नीले क्षितिज के पार खिलती सूर्य की किरणें गलताजी की सारी छटा को सतरंगी बना देती हैं। वृक्षों की हरीतिमा में तोते और बहुरंगी चिड़ियां घाटी में बहती हवाओं में सरगम भर देती हैं। निःसन्देह, गलता जी का प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम ही है जो दर्शकों व यात्रियों के लिये जीवन भर की स्थाई स्मृति बन जाता है।

प्रति दिन गलता तीर्थ में यात्री ही रहते हैं। यहां पर मुख्यतः बंगाली और गुजराती तीर्थयात्री बहुतायत से आते हैं। जो यात्री जयपुर जाकर गलता जी नहीं जाता, उसकी जयपुर यात्रा अधूरी समझी जाती है। □ □
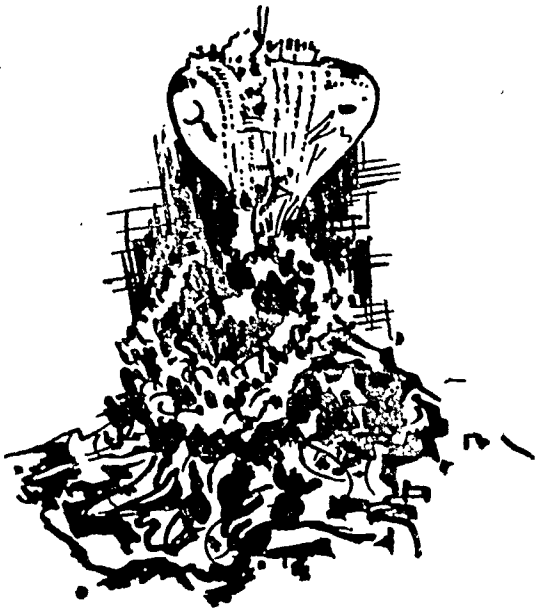
लोहार्गल

• श्री हनुमत्प्रसाद मिश्रा

'हे शौनक जी ! श्री लोहार्गल की गंगा और वदरिकाश्रम की गंगा में मुझे कोई भेद प्रतीत नहीं होता, यह सर्वथा सत्य वचन हैं।' यह जिस तीर्थराज की स्तुति है वह राजस्थान प्रान्त का प्रसिद्ध तीर्थ लोहार्गल भारत भूमि के अनेक तीर्थों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। उक्त तीर्थ स्थान पर अनेक ऋषि-महर्षियों ने समय-समय पर कठिन तपश्चर्या कर अपने लोकोत्तर प्रभाव का परिचय दिया है। वस्तुतः यह एक तपोभूमि है। लोहागीन शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये महर्षि व्यास कहते हैं—'लोहस्य अर्गलेवस्यात् पापानां सन्निरोधकम्, यत्तत्लोहार्गलं नाम तीर्थगुह्यतमं भुवि।' अर्थात्, लोह-अर्गला की भांति जो मानव-मानस में पाप पुंज का प्रवेश न होने दे वही लोहार्गल है। इस लोहार्गल का मुख्य तीर्थ स्थान अर्बु दाचल की उच्च पर्वत श्रेणियों से समावेष्टित होने के कारण अन्यान्य ग्रंथों में जो गुह्यतम तीर्थ विश्लेषण पाया जाता है वह सार्थक है। धर्म-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ हेमाद्रि में 'चतुर्दश गुह्यविलसिते भारते' कह कर इसकी गणना गुप्त तीर्थों में की है। इस तीर्थ का धार्मिक महत्त्व जिस प्रकार अधिक है उसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। यह क्षेत्र सजल सघन वनों से सुशोभित है। पार्वतीय उपत्यकाओं की रमणीयता सचमुच चित्ताकर्षक है। ऊंची-ऊंची पर्वत श्रेणियां हरीतिमा से अच्छादित होने के कारण दर्शकों को वरवस मुग्घ किये विना नहीं रहतीं। लोहार्गल तीर्थ का वर्णन जिन-जिन धर्म ग्रन्थों में मिलता है उनमें स्कन्दपुराण तथा वाराहपुराण का नाम विशेषतया उल्लेनीय है। स्कन्दपुराण के रेवा खंड में महर्षि परशुरामकृत विष्णु-यज्ञ प्रकरण में स्पष्टतया लोहार्गल की ओर संकेत है।

महर्षि परशुराम ने निखिलक्षात्र संहारजन्य पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए इसी क्षेत्र में वैष्णव यज्ञ किया। इस यज्ञ में आमन्त्रित इन्द्रादि देवता भी यहां की रमणीयता देख कर यज्ञ समाप्ति के वाद चिरकाल तक यहीं तप करते रहे।

वाराहपुराण में भी लोहार्गल का उल्लेख मिलता है—

सिद्धवट के समीप म्लेच्छों की वस्ती के बीच में लोहार्गल नाम का मेरा निवास स्थान है जो अर्बुदाचल के शिखरों से परित्त समाच्छादित है। इसमें पन्द्रह अवान्तर तीर्थ और हैं। इसका विस्तार बीस कोश में है। यहां उत्तर दिशा में मेरा निवास है। ब्रह्मा, स्कन्द, रुद्र, अश्विनीकुमार, इन्द्र, मरुद्गण, आदित्य, चन्द्रमा, वृहस्पति, आदि समस्त देवताओं का यहां निवास है। मैं इस क्षेत्र की सुदर्शन चक्र द्वारा सर्वदा रक्षा करता हूं। मेरे इस नित्य निवास पर जव-जव दानव आक्रमण करते हैं तव-तव ही वैष्णवी माया के प्रभाव से मैं उनको शीघ्र परास्त करता हूं। लोहे की अर्गला की भांति पर्वत श्रेणी इस तीर्थ को रोके हुये है अतः इसका नाम लोहार्गल है। एक धारा यहां पर लाल रंग के जल की गिरती है उसके निकट जो सात दिन निवास कर प्रातः सायं स्नान करता है वह साधक ब्रह्मलोक को अनायास प्राप्त कर लेता है।

यह तीर्थ सीकर से उदयपुर-नीमकाथाना जाने वाली सड़क पर रघुनाथगढ़ से ७–८ किलोमीटर दूर है। नवलगढ़ से उदयपुर जाने वाली वसों के मार्ग में भी आता है। भाद्र मास की अमावस्या को इस स्थान पर वड़ा मेला लगता है। इसी समय श्रद्धालु लोग इस पर्वत की परिक्रमा करते हैं। परिक्रमण में आने वाले कई विशिष्ठ स्थल हैं।

'सूर्य कुण्ड' इस तीर्थ का प्रमुख जलाशय है। इसका पुराणों में ब्रह्म-हृद या ब्रह्मसरोवर नाम आया है। युधिष्ठिर आदि पांडव जव अपनी गोत्र-हत्या के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये तीर्थाटन कर रहे थे तो ऋषियों ने कहा था कि जिस जल में डुवोने से भीम की गदा गल जाये वहीं स्नान-दान करने से तुम्हारी गोत्र-हत्या का पाप दूर होगा। यही वह तीर्थ है जहां भीम की वज्रमयी गदा गल कर पानी हो गई थी।

'वाराह कुण्ड' दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसका वाराह पुराण में लालरंग की धारा के रूप में उल्लेख मिलता है। 'ज्ञानवापी' के स्थान पर वह पुरातन वट वृक्ष था जिसका उल्लेख वायु पुराण में है। किसी समय ब्रह्मसर यहां तक था। 'चेतनदास की वावड़ी' महात्मा चेतनदास की अक्षय कीर्ति का स्मारक है तथा किरोड़ी कर्कोटक तीर्थ है जहां गर्म जल का झरना है। 'शाकम्भरी' प्रसिद्ध सिद्धपीठ है। तथा इसके पास ही शंकर की आराधना का श्रेष्ठ स्थल 'रावणेश्वर' है। 'नागकुण्ड' इस तीर्थ का सर्वोच्च जल प्रपात है जो अत्यन्त दर्शनीय स्थान है। यहां सर्पो का वाहुल्य है। सर्प विष को झाड़ने वाले भी इस स्थान के आस-पास वहुत हैं। 'टपकेश्वर' परम रमणीय है। एक पर्वत गुहा की छत में से वूंद वूंद पानी शिव लिंग पर गिरता है और वहीं एक कुण्ड में जमा होता है जिसमें यात्री लोग स्नान करते हैं। 'शोभावती' इस पर्वत की दक्षिणी ढाल में वहने वाली पवित्र नदी है जो डीडवाणा तक जाती है। रघुनाथगढ़ से आगे जहा प्रदक्षिणा समाप्त होती है वहां 'खरकुण्ड तीर्थ' है। भगवान आदिवाराह के खुराघात से इसकी उत्पत्ति वताई गई है। इस प्रकार लोहार्गल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लोक तीर्थ है। □ □
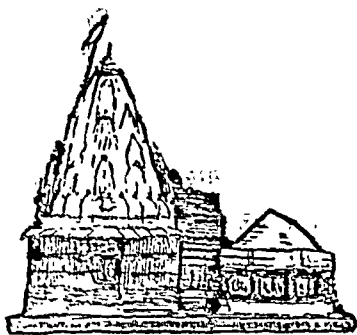
बेणेश्वर

• डॉ० महेन्द्र भानावत:

आथी बेणासरियो मेलो, नाथी धीरी रीजे ए
नाथी खूणावाली कोटी „ „
नाथी मांणा गऊँड़ा काड़ो „ „
नाथी काड़ी ने करीने „ „
नाथी हलियां रा हूपेड़ा „ „
नाथी मेले आपी जाहां „ „
नाथी चुड़ली जोवन जाइहे „ „
नाथी भर जोवन में ई है „ „

गीत गाते हुये ये टोले आदिवासी महिलाओं के हैं। इनके पांवों ने रात-रात भर लम्बी सड़क नापी है। डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ और उदयपुर के सूदूर गांवों, वस्तियों और टेकरियों से रुनक-झुनक स्वर-ताल के ठेकों में इन्होंने संगीत की स्वर लहरियों से सारे मार्ग को सुवासित किया है। वेणेश्वर बावा से दूजा और कोई बावा नहीं। वेणेश्वर मेले से दूजा और कोई मेला नहीं। एक नहीं सैकड़ों झुंड के झुंड बरसाती बेरियों की तरह उमड़ते घुमड़ते यहां एकत्र हो रहे हैं। भील, मीणे ही क्यों और भी कई आदिवासी जातियां हैं—ड़ेगेर, ननोमा, हूंडियार, खरांड़ी, बुझ, वरगोड़, भसार, भगोरा, तावोड़, डामोर, कलासुआ, कटारा, दायमा आदि आदि कितने ही नाम हैं। मेले की हूंस में ये नाम फूले नहीं समा रहे हैं।

लोकतीर्थ वेणेश्वर सोम जाखम और माही नदियों का संगम-स्थल है। डूंगरपुर और बांसवाड़ा की सीमाओं पर अरावली पर्वतमाला के मध्य अवस्थित इस तीर्थ के महात्म्य

का साक्षी स्कंद पुराण है । माही मध्यप्रदेश से आती हुई राजस्थान में मोरन, ऐराव, मादर, चाप और अनास को मिलाती हुई—आत्मसात करती हुई, सोम पर संगम बनाती है । बागड़ की यह गंगा—माही मध्यप्रदेश की ही नहीं राजस्थान की भी बड़ी नदी है । संगम से तात्पर्य है बेणेश्वर अर्थात तीनों के कटाव का सुन्दर सुथरा द्वीप । प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूरित वेणवृक्षों की झुरमुटी में शांत स्निग्ध दूर-दूर तक हराभरा भला किसके मन को नहीं भायेगा ? माघपूर्णिमा (शिवरात्रि) पर लगने वाला यहां का मेला आदिवासियों का सबसे बड़ा मेला, जाखम, सोम और माही के साथ-साथ आदिवासी संस्कृतियों, रंगीनियों, रासक्रीड़ाओं और नृत्यगीतों की बहारों का संगम ।

वेणेश्वर का मेला डूंगरपुर जिले की असपुर तहसील के नवातपुरा नामक स्थान पर जुड़ता है । उदयपुर-बांसवाड़ा-डूंगरपुर बस मार्ग पर स्थित साबला गांव से कोई ६ किलोमीटर दूर यह लोकस्थल है जो उदयपुर से १२३ किलोमीटर, बांसवाड़ा से ५३ किलोमीटर तथा डूंगरपुर से ४५ किलोमीटर पड़ता है ।

बागड़ प्रदेश (सोम तथा जाखम नदी के मध्य) में कटारा क्षेत्र का यह शिव मंदिर लिंगाकार में प्रतिष्ठित है । बेणेश्वर नाम भगवान शिव के लिंग से उत्पन्न है जो सोम और माही नदी के डेल्टा पर आराधित है । २० से. मी. का यह लिंग कहते हैं स्वयं उद्भूत हुआ जो स्वयम्भू लिंग कहलाया । यह लिंग भी पांच स्थानों पर खंडित है । इसके लिए एक कथा प्रचलित है ।

कहते है कटारा के पास ही नवातपुरा नाम का पुराना गांव, यहां से प्रतिदिन एक गाय शिवमंदिर आती और शिवलिंग पर दुग्धाभिषेक कर चली जाती । ग्वाला परेशान हो गया । एक दिन ग्वाला और गाय-धनी उसके पीछे-पीछे चले । गाय शिवमंदिर पहुंची । दुग्धाभिषेक करते हुए उसने अपने मालिक को देख लिया । फलतः वह वहां से भागी । भागते समय शिवलिंग उसके खुर के नीचे आगया इससे वह पांच स्थानों से खंडित हो गया ।

संवत् १५१० का बनाठना यह मंदिर आज भी मध्यप्रदेश, राजस्थान और गुजरात की गर्वोक्ति बना हुआ है । इस मंदिर के पास ही त्रिविक्रमविष्णु, लक्ष्मीनारायण और ब्रह्मा के तीन मंदिर और बने हुए हैं जो तीन संप्रदायों के अस्तित्व को रोशन करते हैं । भगवान विष्णु का मंदिर संवत १८५० में संत मावजी की पुत्रवधू ज़ानकुंवरी ने बनवाया तथा ब्रह्माजी का मंदिर संवत १९८८ में इस क्षेत्र के गौड़ ब्राह्मणों द्वारा बनवाया गया था ।

तीन नदियां, तीन देव, तीन प्रांत और तीन क्रिया कांडों (स्नान, मुंडन, और तर्पण) का यह तीर्थ वस्तुतः अपने असाधारण कलाकल्प का सुमेर, बना हुआ है । पास ही साबला गांव में संत मावजी का मानिन्दा मठ । एकादशी को यहां के पीठाधीश अपने समस्त वैभव के साथ शाही ठाटबाट में यहां आते हैं । सारा मेला धार्मिक ताने बाने में बुनता-तनता दृष्टिगोचर होता है । मावजी की आगमवाणियों का पाठ और अनेकानेक भविष्यवाणियां । अगाध

श्रद्धा और अटूट-विश्वास से सराबोर आदिवासी इसमें भाग लेना अपना धार्मिक-पावन कर्त्तव्य समझते हैं।

पंद्रह दिन के इस भरपूर मेले में भीड़ इतनी रहती है कि पांव रखने को जगह नहीं मिलती। एक हरड़ाटा आया कि एक स्वांस में पूरी सड़क पार हो गई। यहां अनेकानेक व्यापारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। चड़स, हल, कुदाली, खुरपी से लेकर तीर, कमान, तलवार, भाले यहां मिलते हैं। पीतल, तांबे-मिट्टी के बर्तन, नकली गहनों का असली सिणगार, काजल, टीकी, बिन्दी, काच-कांगसी, फूंदी-रुमाल और गोदने वाली मशीनों के नाना गोदनें स्थल की छटा को बढ़ाते हैं। भील स्त्रियां पूरा का पूरा शरीर गोदाती हैं।

बेणेश्वर का यह मेला माघशुक्ला एकादशी से माघशुक्ला पूर्णिमा तक भरता है। मठाधीश पूजा के साथ मेले का विधिवत प्रारम्भ करता है। यहां भील और अन्यजाति के लोग नदी जल में अपने पूर्वजों की अस्थियां चढ़ाते हैं तथा पूजा आराधना करते हैं। माही नदी का यह क्षेत्र गुप्त-क्षेत्र अर्थात पावन क्षेत्र कहलाता है।

यहां मुख्य शिवमंदिर में दिन में दोबार पूजा की जाती है। चढावा सभी भक्त चढ़ा सकते हैं पर मूर्ति को पुजारी के अलावा कोई भी नहीं छू सकता। प्रातः की पूजा में गूगल और खोपरा तथा शाम की आरती में भभूत का प्रयोग होता है। जबकि इसके ठीक पास विष्णु एवं ब्रह्माजी के मदिर में पांच बार की पूजा दी जाती है।

बेणेश्वर का पुजारी सेवक जाति का होता है जो अपनी उत्पति ब्राह्मणों से मानते हैं।

जिसमें पच्चीसों प्रकार की डिजाइनें, तीसों प्रकार के अंगलेख, सरकस थियेटर नटों और जादूगरों के करतब एक से एक कमाल शामिल है। और इन सबके परे एक और डोलरों की लम्बी कतारों तथा चंग-डोलर और घोड़ा-डोलर में आदिवासी वनवासी सौंदर्य विकीर्ण हो उठता है।

आजकल यह मेला असपुर पंचायत समिति की देखरेख में आयोजित होता है। इस मेले की मुख्य विशेषता है भील जाति की भव्य झांकियां जो भारतवर्ष के एक अन्य लोकजगत को हम सबसे सहज ही जोड़ देती हैं। हरिवंशपुराण में लिखा हैं कि सांमल गांव में कल्कि का अवतार होगा। ऐसी पावन स्थली का गौरव भला समय कैसे कम कर पायेगा?

बेणेश्वर का माहात्म्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ऐसा सोपान प्रस्तुत करता है जहां इस भव और परभव की आत्मिक जिजीविषाएं एकाकार हो शाश्वत सौख्य उंडेलती हैं।

□□

बाण गंगा

• श्री कैलाशचन्द्र शर्मा
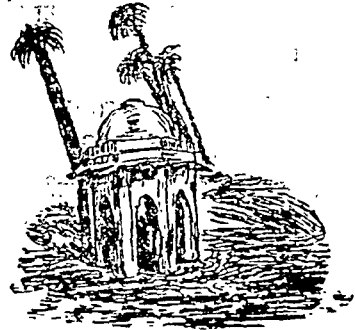
राजस्थान के गुलाबी नगर जयपुर से लगभग ८५ किलोमीटर दूर जयपुर–अलवर दिल्ली मार्ग पर एक ऐतिहासिक स्थान है 'वैराठ'। और वैराठ से ११ किलोमीटर की दूरी पर है बाणगंगा। निर्मल और पवित्र जल से कलकल करता हुआ एक चश्मा। चश्मे के किनारे स्थित कई मन्दिरों और तालाबों ने इस स्थान की शोभा को और भी बढ़ा दिया है। बाणगंगा नाम से हमारे देश में और भी कई नदियां और चश्में विख्यात हैं किन्तु एक बहुत बड़े इलाके में इस प्रकार का केवल एक ही चश्मा होने के कारण बाणगंगा पर लोगों की अपार श्रद्धा और विश्वास होना स्वाभाविक ही है।

हर वर्ष वैशाख की पूर्णिमा को बाणगंगा पर बड़ी धूमधाम से मेला लगता है। अलवर, बहरोड़, कोटपुतली, डीग, भरतपुर और जयपुर तक के असंख्य यात्री यहां एकत्र होते हैं और रंग-बिरंगे परिधानों में सजे, नाचते-गाते बाणगंगा और पांडवों की स्तुति करते हैं। बाणगंगा की उत्पत्ति को अर्जुन से सम्बद्ध माना जाता है। आज के दिन बाणगंगा में स्नान करने का बड़ा महत्व है। यहां हर व्यक्ति स्नान कर अपने को धन्य मानता है।

कहा जाता है कि महाभारत में वर्णित 'विराट नगर' वैराठ ही है। महर्षि वेद व्यास की आज्ञानुसार अपने वनवास का १३ वां वर्ष पांडवों ने राजा विराट के राज्य ही में बिताया था। मेले के स्थान से कुछ ही दूरी पर खेजड़ा वृक्ष है जिस पर कहा जाता है पांडवों ने अपने हथियार छिपा कर रखे थे।

यह कहना कठिन है कि यहां मेले का आरम्भ कब और कैसे हुआ। यद्यपि मेले में यात्री मुख्यरूप से महाभारत के वीरों (पांडवों) को स्मरण कर श्रद्धा-सुमन अर्पण करने

ही यहां आते हैं, किन्तु ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि यह मेला महाभारत काल से ही चला आ रहा है। फिर भी यह तो निश्चित ही है कि २०० वर्ष पूर्व जव से जयपुर के श्री नन्दरामवख्शी ने इस स्थान पर राधाकृष्णजी का मन्दिर वनवाया तव से हर वर्ष यह मेला बड़े हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है।

मेले के दिन वाणगंगा की चहल-पहल देखते ही वनती है। तरह-तरह की दुकानों से वाजार सज जाता है। ग्रामीण जनता को अपनी आवश्यकता की लगभग हर वस्तु यहां उपलब्ध हो जाती है। नाच रंग का अभाव यहां नहीं अनुभव होता। रंग-विरंगे वस्त्रों में सजे हुए मीणा जाति के स्त्री-पुरुषों से नाच-गाने में होड लेना हर एक के वस की वात नहीं है। यह लोग अधिकतर वाणगंगा और पांडवों की स्तुति में ही गीत गाते हैं।

प्रतिदिन दो वार राधाकृष्णजी को भोग लगाया जाता है। भोग में चावल, रोटी, दाल आदि (कच्चा खाना) पदार्थ होते हैं। मेले और त्योहारों के अवसर पर पूरी-लड्डू (पक्का खाना) वनाकर राधाकृष्णजी को अर्पित किया जाता है। भोग लगाने के पश्चात् यही वस्तुए श्रद्धालु यात्रियों को 'प्रसाद' के रूप में वितरित करदी जाती हैं। अन्य देवताओं को भोग जौ और दालों के रूप में लगाया जाता है। कुछ लोग श्रद्धानुसार धन भी अर्पण करते हैं। वाणगंगा मंदिर के पुजारी रामानन्द सम्प्रदाय को मानने वाले ब्राह्मण हैं। यह लोग यात्रियों की सुविधा और आवश्यकताओं का भी पूरा ध्यान रखते हैं और उनकी भरसक सहायता करते हैं। मेले की पूर्व संध्या से ही कीर्तन और भजनों से वातावरण गूंजित हो जाता है। दूसरे दिन प्रातः भक्त लोग वड़ी श्रद्धा के साथ पवित्र वाणगंगा में स्नान करते हैं और उसके पश्चात् आसपास के अन्य दर्शनीय स्थल देखने जाते हैं।

राधाकृष्णजी के मंदिर की इमारत दुमंजिली वनी हुई है। मन्दिर में राधाकृष्ण के अतिरिक्त गरुड़ और पांच पाण्डवों सहित द्रोपद्री की मूर्ति भी वनी हुई है। यहां कई शिव-लिंग भी स्थापित किये गये हैं जिनमें से पंचमुखी महादेव अथवा एकादश रुद्र का अपना ही महत्व है। मन्दिर के पास ही नन्द कुण्ड, वाण कुण्ड और महादेवजी का मन्दिर तथा अन्य दर्शनीय स्थल हैं।

वाणगंगा का यह मेला लोगों की अपार श्रद्धा का द्योतक तो है ही साथ ही एक वहुत वड़े क्षेत्र के विशाल जन समूह के लिए संगम का कार्य भी करता है। वर्ष भर के कठोर परिश्रम के पश्चात् वाणगंगा की यात्रा देव-दर्शन, पवित्र स्नान और मनोरंजन भोले ग्रामीणों के जीवन में एक नयी चेतना और नये विश्वास को जन्म देता है। परम्परा और इतिहास के अनेक अनमोल और धूमिल पृष्ठों को छिपाए हुए यह मेला हमारे राष्ट्र और संस्कृति की सच्ची धरोहर है।

▣

▣

श्री गढ़बोर

• श्री मनीलाल सोनकर
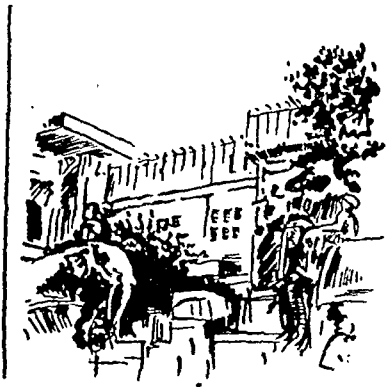
मेवाड़ का हर गांव कथा व गीत की अभिनव पृष्ठभूमि का साक्षी है। इतिहास के जौहर और मर्यादापूर्ण युद्ध इस क्षेत्र के चप्पे-चप्पे पर खेले गये हैं। यही कारण है यहां भक्ति और साधना के नये नये अध्याय भी सदियों से निर्मित होते आये हैं। शैव और वैष्णव परम्पराओं की विचार भूमि होने के कारण यहां लोक-आस्था के कई स्वर एक साथ उभरे और स्थापित हुए। वैष्णव धर्म को इस क्षेत्र में समसामयिक प्रभावों के कारण सबसे अधिक अपनाया गया। मेवाड़ के प्रसिद्ध 'चार धामों' में एक और जहां एकलिंगजी में शैव परम्परा की जय-जयकार सुनायी देती है वहां पड़ौसी घाटियों में नाथद्वारा (श्रीनाथजी) कांकरोली (द्वारकाधीशजी), श्रीगढ़बोर (चारभुजाजी), कांकरिया श्रीरूपनारायणजी, आदि में वैष्णव परम्परा की मनोहारी भीड़ देखते ही बनती है। मेवाड़ की भूमि में लोक-आस्था के इतने केन्द्र स्थापित हैं कि यह समग्र रूप से स्वयं एक पुण्यधाम बन गयी है।

श्री गढ़बोर नाथद्वारा से लगभग ३८ किलोमीटर दूर है। यहां का निकटतम रेल का स्टेशन आमेट—चारभुजाजी है। ग्राम छोटा सा है किन्तु चारभुजाजी के विशाल मंदिर एवं श्रीकृष्ण की चमत्कारपूर्ण भव्य प्रतिमा के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया है। हरी-भरी पहाड़ियों के बीच सड़क से कुछ दूरी पर यह मंदिर एक ऊंचे स्थान पर बना हुआ है।

चारभुजा के मंदिर की प्राचीनता के विषय में स्पष्ट तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। इसे कई हजार वर्ष पुराना माना जाता है, तथा लोक-प्रसिद्धि है कि चारभुजाजी की इस

विशाल प्रतिमा की पूजा द्वापर युग में पाण्डव किया करते थे । अपने अन्तिम समय में पाण्डवों ने इसको जलमग्न करवा दिया था । कालान्तर में यही प्रतिमा गंग नामक एक क्षत्रिय को प्राप्त हुयी । गंगदेव भक्तवत्सल, सत्यवादी और वीरोचित स्वभाव का व्यक्ति था । उसे स्वप्न में चारभुजाजी के दर्शन हुए । उसने खोजकर प्रतिमा को जल से बाहर निकाला तथा उनकी सेवा-पूजा करने लग गया । प्रतिमा में गंगदेव की गहरी 'आस्था थी अत: उसने अपने इष्ट से यही वरदान मांगा 'कि उसके शरीर का अन्त इष्ट के चरणों में ही हो ।

सम्भवत: यह वह काल रहा होगा जब मुगलों द्वारा हिन्दू देवस्थानों को नष्ट किया जाता था । चारभुजाजी के मंदिर पर भी जब यवनों की कुदृष्टि पड़ी तो गंगदेव ने अपने पांचों भाइयों सहित डटकर लोहा लिया । पर वह पांचों भाइयों सहित ही खेत रहा । 'चांवणों की भागल' में गंगदेव का स्मारक आज भी विद्यमान है । यवनों के द्वारा अपने इष्ट की प्रतिमा का अनादर नहीं कर दिया जाए इसलिए गंगदेव के परिवार वालों ने प्रतिमा को पुन: जलमग्न कर दिया ।

किंवदन्ती है कि तत्कालीन बूंदी राज्य के नेड़ा ग्राम के गूजर शूरा को चारभुजाजी की पूजा करने का अवसर मिला । शूरा वर्तमान पुजारियों का पूर्वज था । वह एक बार गायें चराता हुआ गढ़बोर की पर्वतमालाओं में आकर बस गया । श्रीचतुर्भुज भगवान साधु के वेश में चुपचाप शूरा की गायों का दुग्धपान करने लगे । शूरा को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने साधु को अपशब्द कहने शुरू किए पर उसकी जिह्वा तालू से चिपक गयी । वह एक भी शब्द का उच्चारण नहीं कर सका । उसने साधु की ओर आंख उठाकर देखा तो उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि उसके दुग्ध-चोर स्वयं भगवान चारभुजाजी हैं जो उसके सामने शंख, चक्र, गदा व पद्म धारण किये उसे दर्शन दे रहे हैं ।

शूरा को चारभुजाजी ने आदेश दिया, "मैं अभी 'अमरवापी' नामक तालाब में पड़ा हुआ हूँ, तू मुझे वहां से निकाल कर मेरी पूजा करना प्रारम्भ कर । यद्यपि एक गूजर होने के नाते तुझे सेवा का विधि-विधान ज्ञात नहीं है फिर भी मैं तेरे द्वारा निष्ठापूर्वक की गई सेवा को स्वीकार कर लूंगा ।" शूरा ने तभी से गायें चराना छोड़ दिया और चारभुजाजी की भक्ति-भावना से सेवा-पूजा प्रारम्भ कर दी ।

सेवा-पूजा के निमित्त महाराणा उदयपुर द्वारा छ: हजार रुपये प्रतिवर्ष राज्य के कोष से स्वीकृति दी जाती थी । महाराणा एकलिंगजी की भांति ही चारभुजाजी को भी अपना इष्ट मानने लगे । धीरे-धीरे जनता के धनीमानी व्यक्ति भी चारभुजाजी में श्रद्धा रखने लगे तथा मूल्यवान वस्तुओं की भेंट चढ़ाने लगे ।

प्रत्येक भाद्रव शुक्ला एकादशी को गढ़बोर में विशाल मेला लगता है जिसमें

मेवाड़ के अतिरिक्त शेष राजस्थान, गुजरात तथा मध्यप्रदेश के लोग भी भाग लेते हैं। मनोकामना सिद्धि के लिए चारभुजाजी को इन क्षेत्रों में पूरी मान्यता प्राप्त है।

यह विशेषता की बात है कि कोई यात्री प्रातः उदयपुर से बस में बैठकर मेवाड़ भूमि के चारधामों—एकलिंगजी, नाथद्वारा, कांकरोली तथा चारभुजाजी की यात्रा कर सायं तक लौट सकता है। राजस्थान का यह लोकतीर्थ भक्ति का अनन्य धाम है जहां प्रत्येक जाति और वर्ग के लोग आते हैं तथा मन में संतोष और सद्भाव का अनुभव करने लगते हैं। □ □

वैशाखी
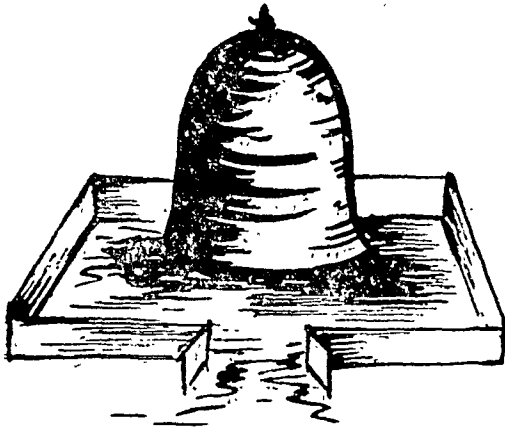
• श्री दीनदयाल ओझा

विभिन्न धर्मों संप्रदायों और पंथों की क्रीड़ा-स्थली जैसलमेर, अनेकों लोकतीर्थों से भरी पूरी है। चूंधी, वैशाखी, लोद्रवा और जैसलमेर नगर विभिन्न धर्मानुयायियों के लिए आज भी पवित्र स्थान माने जाते हैं और इन स्थानों पर दूर-दूर के यात्री आकर श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हैं। जैसलमेर से १८ किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित वैशाखी इसी तरह का प्राचीन लोक स्थान है।

जैसाकि वैशाखी नाम से स्वयं सिद्ध है इसका सम्बंव भगवान बुद्ध से होना चाहिए। वैशाखी के विषय में पुरातत्वानुरागी डा० सत्यप्रकाश ने लिखा है—जैसलमेर नगर से १८ किलोमीटर की दूरी पर वैशाखी नामक एक स्थान है, जिसका सम्बन्ध भी भगवान बुद्ध से माना जाता है। उस स्थान के विषय में विशद खोज की जा रही है और आशा की जाती है कि यथार्थ के ठोस प्रमाण मिलने पर किंवदन्ती की सार्थकता पर निश्चित रूप से प्रकाश डाला जा सकेगा।

यही नहीं, यहां के मंदिर का शिल्प एवं उसके द्वार पर पड़ा प्राचीन लिपि में लिखा शिलालेख भी उक्त कथन की साक्षी स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः यहां पहले बौद्धों का प्रभाव था और तत्पश्चात शैव मत वालों का इस क्षेत्र पर अधिकार हो गया और सभी मंदिर शिव मंदिर बना दिये गये।

प्रत्येक तीर्थस्थान के सम्बन्ध में कोई न कोई कथा अवश्य जुड़ी रहती है। वैशाखी के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि इस क्षेत्र को एक हिन्दू रानी को मुसलमान

ले गया परन्तु उसे शिवपूजा करने की छूट थी। वह नित्य नियम से शिव पूजा किया करती थी। कालान्तर में जब उस रानी का देहान्त हुआ तो उस राजा ने अपनी रानी की स्मृति में एक शिव मंदिर बनवाया। वही शिव मंदिर वैशाखी का प्रमुख शिव मंदिर है।

कहा जाता है कि यहां उत्तरी भारत के प्रमुख सन्तों के साथ-साथ कबीर भी आए थे। आज भी इस क्षेत्र में कई स्थान 'कबीर री पठियाली' के नाम से पहिचाने जाते हैं।

इस क्षेत्र में निवास करने वाली जातियाँ भील, मेघवाल आदि के लिए यह स्थान गंगा की तरह पवित्र है और इन जातियों में किसी के मरणोपरान्त समस्त सत्कार्य यहीं आकर उनके परिवार वाले करवाते हैं। यहां के कुंडों में गंगा की धारा आती है और वह सभी को सद्गति प्रदान करती है ऐसी इस क्षेत्र के सभी निवासियों की मान्यता है।

इन जातियों वाले लोग ही नहीं वैशाखी पूर्णिमा के दिन जब यहां मेला लगता है तो ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय सभी यहां के कुंडों में स्नान करके, परिक्रमा लेकर अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं।

नाथ सम्प्रदायानुयायी इस मेले पर एकत्रित होकर 'भण्डार' करते हैं। इन भण्डारों में दूर-दूर के नाथ सम्प्रदायानुयायी आते हैं। कई भक्त इन भण्डारों में भेंट स्वरूप धन भी देते हैं।

वैशाखी पूर्णिमा को रातभर जागरण होता है। इन जागरण-मंडलियों में अनेकों संतों की भावभरी वाणियां गाई जाती हैं। महिलाएं भी कीर्तन करती हैं। इस प्रकार चारों ओर निर्मल चांदनी सी भक्ति-भावना की पावन गंगा प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है।

यहां पर कई कुंड बने हुए हैं। इन कुंडों में राधा कुंड, कृष्ण कुंड, सती कुंड और नाथ सम्प्रदाय वालों का कुंड विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। इस क्षेत्र के निवासियों की ऐसी मान्यता है कि इन कुंडों में वैशाखी पूर्णिमा को दोपहर के बारह बजे गंगा का प्रवाह आता है। इस समय इन कुंडों में स्नान करने से गंगा स्नान सा पुण्य मिलता है। ये कुंड इस क्षेत्र के निवासियों के लिए अक्षय जल के स्रोत हैं। चाहे वर्षा हो या न हो पर इन कुंडों में तो पानी रहता ही है।

साहित्य, संगीत एवं कला की दृष्टि से लोकतीर्थ वैशाखी का मेला लोक-साहित्य के अनुसंधान कर्ताओं के लिए तो विशेषरूप से दर्शनीय है। इस क्षेत्र में आयोजित होने वाले मेलों में यह मेला अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

□

धनोप

• श्री व्रजमोहनसिंह परमार

धनोप, जिला भीलवाड़ा की शाहपुरा तहसील का एक प्रमुख ग्राम है, जो शाहपुरा से लगभग ३६ किलोमीटर दूरी पर खारी नदी के दक्षिणी तट पर स्थित है।

धनोप के विषय में यद्यपि ऐतिहासिक सामग्री का अभी तक विशेष अध्ययन नहीं किया गया है फिर भी अतीत की टूटी कड़ियों को यहां से प्राप्त सिक्कों, शिलालेखों तथा स्मारकों और अवशेषों के अध्ययन करने के उपरान्त जोड़ा गया है जिससे बड़े रुचिकर तथ्य सामने आये हैं। बागौर की भांति धनोप के पास पंचदेवरा नामक रेतीले टीलों पर उत्तर पाषाण कालीन मानव का निवास था।

जनश्रुति के अनुसार धनोप राजा धुन्धु की राजधानी थी। यह धुन्धु कौन था? मार्कण्डेय पुराण में एक धुन्धु नामक असुर का उल्लेख है, जो गालव ऋषि के आश्रम (गलता--जयपुर के निकट) के आसपास उत्पात मचाया करता था। इस धुन्धु को नागराज-कुमार द्वारा मारे जाने का उल्लेख भी उक्त पुराण में मिलता है। यह धुन्धु कोई हूण राजा या सामन्त तो नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है, कि अभी हाल में धनोप ग्राम के एक मकान के आंगन में लगभग ४ फीट नीचे तीस चांदी के सिक्के मिले हैं। इन सिक्कों पर राजा का ऊर्ध्व चित्र तथा दूसरी ओर तथाकथित अग्निवेदी या सिंहासन विन्दुओं और रेखाओं के माध्यम से बनाये गये हैं। ये सिक्के ससेनियन सिक्कों जैसे हैं, जिन्हें पश्चिमोत्तर तथा मध्य भारत में चलाने का श्रेय हूणों को दिया जाता है।

धनोप पर ११ वीं शताब्दी में राठौड़ों का आधिपत्य था, तथा ८-१२ वीं शती तक शिव, शक्ति तथा वैष्णव मत का यहां प्रावान्य रहा। इसके अतिरिक्त यहां खारी तट पर एक मार्तण्ड भैरव का १० वीं शती का लघु देवालय भी दर्शनीय है। इस मन्दिर को गांव वाले देवनारायण मन्दिर कहते हैं। मन्दिर ऊंचे चबूतरे पर पूर्वाभिमुख है, जिसके प्रवेश-द्वार की चौखट पर द्वारपालिकाओं के स्थान पर गंगा-यमुना, ऊपर लताशाखा और पद्मपाणि पुरुषाकृतियां तथा चतुर्मुखी कमल-परशुधारी—सम्भवतः मार्तण्ड भैरव की प्रतिमा ललाट बिम्ब में अंकित है। सूर्य और शिव के मिलेजुले रूप का अंकन उस समय के विभिन्न मतों के समन्वित रूप का परिचय कराता है। चौखट के ऊपर ललाट बिम्ब के दोनों ओर मिथुनाकृतियां और बीच बीच में कीर्तिमुखों का अंकन है। जिनके ऊपर नवग्रहों को उत्कीर्ण किया गया है।

धनोप अपने मध्यकालीन माता मन्दिर के लिए लोक में सर्वाधिक विख्यात है। जनश्रुति के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण कन्नौज नरेश जयचन्द ने करवाया था। मंदिर की देवी की चमत्कारी प्रतिमा में आस्था रखने के कारण भक्तजन इसके चारों ओर निर्माण कार्य करा रहे हैं, जिसके कारण इसका मूल रूप कला और स्थापत्य की दृष्टि से ओझल होता जा रहा है। इस देवी मन्दिर पर वैसे वर्ष भर भक्तजन मनौतियां मनाने आते रहते हैं, परन्तु नवरात्रों के अवसर पर यहां सहस्त्रों की संख्या में भक्तजन दूर-दूर से आते हैं, इस प्रकार भक्तों का यह सम्मेलन एक पखवारे के लिए मेले का रूप धारण कर लेता है।

ग्राम धनोप का किला भी अपनी विशेषता लिए हुए है, वह यह कि मध्यकालीन राजस्थानी परम्परा के प्रतिकूल यहां किले की दीवारें पत्थर के स्थान पर पक्की ईंटों से बनी हैं।

पूर्व में धनोप केवल वैष्णव, शैव और शक्ति पूजा का ही केन्द्र नहीं था, वरन यह श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की आस्था का भी केन्द्र रहा है। यहां के उत्तर-मध्ययुगीन श्वेताम्बर जैन मन्दिर के गर्भगृह में १० वीं शती से लेकर १४ वीं शती की प्रतिमायें हैं, जिनमें काले पत्थर की चार पार्श्वनाथ प्रतिमायें और गौमुख पक्ष की प्रतिमा विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। यह प्रतिमा भूरे बलुआ पत्थर में बनी चतुर्भुजी और सुखासनस्थ है। इस प्रकार धनोप प्रारम्भ से ही एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र और लोकतीर्थ रहा है।

☐

☐

☐

कांकरोली

• श्री सीताराम गुप्त

राजस्थान की पुण्य भूमि अपनी स्वाभिमानी वीरगाथाओं और बलिदानी परिपाटियों के लिए तो विख्यात है ही, इसे यह अप्रतिभ गौरव भी प्राप्त है कि वैष्णवों के सबसे विख्यात मंदिरों में से दो उसी के प्रदेश में हैं। ये हैं नाथद्वारा के श्रीनाथजी और कांकरोली के श्री द्वारिकाधीशजी के मन्दिर।

अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली को औरंगजेब के शासन का मुंह देखना पड़ा, जिसकी धर्मांधता ने अपने सभी पूर्वज मुगल सम्राटों के इतिहास पर कालिख पोत दी। धर्मप्राण जनता उसके धार्मिक पक्षपात से भरे निर्दय और बर्बर कारनामों से आतंकित हो उठी। न जाने कौन से नगर का कौन सा देव-मन्दिर उसकी कट्टरता का शिकार हो जाय, कहा नहीं जा सकता था। रामकृष्ण की लीला भूमि, गंगा-यमुना की लहरियों से सिंची मिट्टी उसकी नीति का विशेष कोप भाजन बनी, जिससे धर्माचार्यों और उनकी आराध्य देव प्रतिमाओं की सुरक्षा संकट में पड़ गई। इसी दुष्काल में मथुरा के वल्लभाचार्य के वंशधरों ने विवश होकर अपनी आराध्य कृष्ण मूर्तियों के साथ छिपते छिपते मेवाड़ के राज्य में शरण ली तथा नाथद्वारा और कांकरोली दो स्थानों पर देव प्रतिमाओं की पुनः प्रतिष्ठा की। इस प्रकार नाथद्वारा के बाद वैष्णव सम्प्रदाय के दूसरे विख्यात तीर्थस्थल बन जाने का श्रेय कांकरोली को प्राप्त हुआ।

काँकरोली नाथद्वारा से लगभग १६ किलोमीटर उत्तर में राजसमन्द झील के तट पर अवस्थित है। यहां मोटर और रेल दोनों मार्गों से पहुँचा जा सकता है। स्टेशन से काँकरोली कस्बा लगभग ५ मिलोमीटर दूर है । यहां यात्रियों के ठहरने के लिए कई धर्मशालाएं हैं।

राजसमन्द की विशाल झील ने काँकरोली के कलेवर में चार चांद लगा दिए हैं। दूर तक फैली हुई नीलाभ जलराशि और उसमें पार्श्व से झाँकती हुई पहाड़ी किसी वीर रमणी की भाँति अपना ओजस्वी स्वरूप दर्पण में निहारती सी प्रतीत होती है। झील के तट पर निर्मित तोरण और पक्के घाटों की सीढ़ियां वीर मेवाड़ राज्य की कलाप्रियता और प्रस्तर शिल्प का उद्घोष सा कर रही हैं । ऐसे रमणीय, शान्त और धार्मिक चेतना के स्थल अन्यत्र कम ही मिलते हैं।

काँकरोली वल्लभ-सम्प्रदाय के सात उपपीठों में से प्रमुख पीठ है। यहां श्री द्वारिका-धीश के रूप में भगवान श्रीकृष्ण की मनोहारी झांकी के दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि अपनी दानशीलता एवं न्यायप्रियता के लिए इतिहास प्रसिद्ध महाराजा अम्बरीष इसी प्रतिमा की आराधना करते थे।

काँकरोली के गुसाईं (आचार्य) वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ के तीसरे पुत्र के वंशधर हैं। मेवाड़ के राणा यहां के आचार्यों के शिष्य होते आए हैं तथा मन्दिर की पूजा के लिए मेवाड़ राज्य की ओर से इक्कीस गांव मन्दिर को मिले हुए हैं।

नाथद्वारा की भांति काँकरोली में भी एक विद्या-विभाग है, जहां पुष्टि मार्ग के प्राचीन ग्रंथों की महत्वपूर्ण खोज का कार्य होता है।

यहां आसपास श्री बालकृष्णलाल, लाल बावा, ब्रजभूषणलाल आदि के मन्दिर हैं। द्वारिकाधीश मन्दिर के पास ही यहां एक जैन मन्दिर भी है, जिसे महाराजा राजसिंह के मन्त्री दयालशाह ने बनवाया था। अन्य जैन मन्दिरों की भांति यह मन्दिर भी किसी समय प्रस्तर शिल्प व मूर्तिकला की दृष्टि से उत्कृष्ट रहा होगा किन्तु अब खंडहर अवस्था में ही है। कहा जाता है कि मराठी आक्रमण का कोप भाजन बनकर यह इस अवस्था को प्राप्त हुआ। फिर भी इस खंडहर अवस्था में भी इसकी श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार काँकरोली राजस्थान का एक विख्यात धर्मस्थल तथा दर्शनीय स्थान है, जो देश भर से दर्शकों और श्रद्धालुओं को आकर्षित करने की क्षमता रखता है।

□

□

□

नई

• श्री भूंथालाल नांढ़ला

नई अथवा नहान जयपुर जिले की तहसील एवं पंचायत समिति वस्सी में एक ऐतिहासिक व धार्मिक स्थान है। यह भूतपूर्व जयपुर रियासत अथवा ढूंढाड़ क्षेत्र के पुराने तीर्थों में से एक है। वर्तमान में यह स्थान नई के नाम से प्रसिद्ध है। नई अथवा नहान इसी स्थान का नाम है जो जयपुर-दिल्ली रेल्वे लाइन पर पूर्व की ओर ३२ किलोमीटर दूर है। यह स्थान बहुत ऊंचे पर्वतों की श्रेणियों के मध्य भाग में, खंडहर अवस्था में विद्यमान है। यहां पर नई के महादेव का प्राचीन शिखरबंद मंदिर है। मंदिर में शिव की एक प्राचीन मूर्ति है। वह इस क्षेत्र के लिए वरदान दायक है। यहां प्रति वर्ष श्रावण मास में एक विशाल मेला लगता है जो नईनाथ महादेव का मेला कहलाता है। इसमें लगभग २५-३० हजार यात्री भाग लेते हैं। इस मेले में यहाँ के मूल निवासी मीणा जाति के लोग अधिक संख्या में आते हैं। मीणा जाति इनको अपना आदिदेव मानती है जो 'शिवजी नई नाथ के' नाम से मशहूर है। मीणों के इतिहास व अन्य लेखों से पता चलता है कि यह स्थान मीणों की गोमलाडु खांप के लोगों की मूलस्थली रही है जो उनकी वंशावली से जाना जा सकता है। वंशावली में लिखा है कि राजा नहानदेव ने नई शहर को संवत २१० में बसाया था तथा यहां पर किला, कोट आदि के अलावा नवनाथ महादेव की प्रतिष्ठा भी की थी। यहां की दंत कथा है कि यह मंदिर नाहन देव ने अपने रणवास में बनवाया था।

पुरातत्ववेत्ता श्री कारलाइल ने भी आज से २०० वर्ष पूर्व इस शहर की प्रशंसा की थी। उसने लिखा है कि भारत वर्ष में मेरे द्वारा देखे गये तीन स्थानों में से यह एक महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक स्थान है, जो नई शहर के नाम से विख्यात था और ५०० वर्ष पहले उजड़ चुका था। इस शहर के बावन कोट और ५६ दरवाजे थे। श्री कारलाइल

ने एक कहावत का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है— 'बावन कोट छप्पन दरवाजा, जहाँ बसे नई का राजा।'

विद्वान कारलाइल ने इस शहर के बारे में एक छन्द और उद्‌घृत किया है, जो इस प्रकार है—'ढूंढाड़ के दो धणी, कह जयसिंह के जगराम'

इस छन्द से यह पता चलता है कि नई शहर, ढूंढाड़ की एक राजधानी थी और तब आमेर में राजा जयसिंह कछावा (कछवाह) राज्य करता था। उस समय नई में कोई बलवान मीणा होगा जिसका नाम जगराम था। यह नई शहर राजा भारमल कछवा (आमेर) के समय सन् १६२६ में उजड़ गया था। राजा सवाई जयसिंह (द्वितीय) जिसने की १७१८ में जयपुर शहर की नींव लगाई थी, उस समय मीणों का कोई राज्य नहीं रहा होगा। नई शहर को भारमल कछावा ने तत्कालीन मुगल सम्राट अकबर की सैनिक शक्ति से विध्वंस किया था और इस नगर को उजाड़ कर लवाण शहर बसाया था जो यहाँ से लगभग ११ किलोमीटर पूर्व की ओर है। यह कछावा खांप के राजावत लोगों की वास भूमि कहलाती है। इसके अलावा इस शहर के उजड़ने पर कई गांव फिर बसे हैं, जो संभवतः ५०० वर्ष पुराने लगते हैं।

नई शहर मीणों का मूल स्थान है। ढूंढाड़ में लगभग दो लाख मीणे रहते हैं। इन मीणों के यहां शिव तीर्थ आदि तीर्थ हैं। यहां के मीणों का नारा भी –'हर-हर महादेव' है। पचवारा के मीणे भी शिवजी के उपासक हैं। समय-समय पर मेले आदि पर्वो पर ये हजारों की संख्या में एकत्रित होते हैं और अपनी भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। नई अथवा नहान का नवनाथ महादेव, मीणों का तीर्थ स्थान है और इसकी पूजा बीलपत्र व जल चढ़ाकर की जाती है। शिवरात्रि के दिन दूर-दूर से इस स्थान पर भक्त लोग आते हैं और 'पेट पलाण' दंडवत करते दिखाई देते हैं। मान्यता है कि यह शिव–तीर्थ साक्षात देव-तीर्थ है। यहां से लोगों की मनोकामना पूरी होती है। यहां लोग जागरण और ब्रह्म-भोज करते हैं, शिव की अखंड जोत जलाते हैं। शिव की पूजा जोगी–जाति के लोग करते हैं। शिव मंदिर पर्वतों के मध्य भाग में है। यहां पुराने मंदिर कोट की दीवारें, जो लगभग १०-१२ फीट चौड़ी है, आज भी देखी जाती हैं। यहां प्राचीन मंदिर के स्तम्भों के हिस्से भी पड़े हुए हैं और एक शिलाखंड पर महात्माओं की कीर्तियां खुदी हुई हैं। दरवाजे की चौखट के सिरे पर गणेश जी की मूर्ति खुदी है जिससे पता चलता है कि यह स्थान काफी पुराना है और समय-समय पर इनकी मरम्मत होती रही होगी। इस क्षेत्र के निवासी अपने पशु खो जाने पर नई महादेव की बोल्यारी (मनोती) बोलते हैं। खिरूड़ी चढ़ाते हैं और जोगी जिमाते हैं। इस प्रकार इस नईनाथ की महिमा, समस्त ढूंढाड़ अथवा जयपुर के क्षेत्र में लोक-तीर्थ की आदर्श मर्यादा की प्रतीक है।

☐

☐

शाहपुरा

० श्री ब्रह्मदत्त शर्मा

भीलवाड़ा की उत्तर दिशा में लगभग ४८ किलोमीटर पर पक्की सड़क से जुड़ा शाहपुरा नगर है जहां रामस्नेही सम्प्रदाय का प्रमुख तीर्थ-स्थान रामद्वारा है। यह रामस्नेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामचरण जी महाराज की मुख्य गद्दी है।

प्रत्येक वर्ष चैत्र प्रतिपदा को रामस्नेहियों का शाहपुरा में मेला लगता है जिसमें समस्त भारत के रामस्नेही साधु एकत्रित होते हैं और हजारों की संख्या में इस सम्प्रदाय के अनुयायी आते हैं। मेला प्रतिपदा से पंचमी तक भरता है। प्रति दिन प्रातःकाल रामचरणजी महाराज की वाणी (धर्म ग्रन्थ) बढ़िया कामदार मखमली कपड़े में लपेट कर रामद्वारा लाया जाता है। ग्रंथ एक व्यक्ति के सिर पर रखा जाता है तथा जुलूस के साथ भक्तजन वाणी को उच्च स्वर से पाठ करते हुए पीछे पीछे चलते हैं। विशाल भवन की बारादरी में उसे रखा जाता है जहां लोग साष्टांग होकर वन्दना करते हैं। राजस्थान में ही नहीं गुजरात और सौराष्ट्र में भी इस मत के मानने वालों की बहुल्यता है। राजस्थान में तो लगभग सभी बड़े ग्रामों तथा नगरों में रामद्वारे बने हुए हैं।

रामस्नेही साधु हल्के गुलाबी रंग की चादर ओढ़ते हैं, कोपनी लगाते हैं और मुंडा हुआ सिर रखते हैं। जूते नहीं पहनते और न कोई अन्य श्रृंगार ही करते हैं। पानी के लिए एक "तूम्बी" तथा भोजन के लिए मिट्टी का पात्र (पात्रा) रखते हैं। ये गले में काठ की कंठी पहनते हैं और रामनाम की माला जपते हैं। बिना जाति-पांति के भेदभाव रामस्नेही साधु बना जा सकता है।

इस सम्प्रदाय के आदि गुरु रामचरणजी महाराज का जन्म माह सुदी, १४, सं० १७७६ वि० में जयपुर राज्य के सोड़ा ग्राम में विजयवर्गीय वैश्य परिवार में हुआ था। तत्कालीन जयपुर राज्य के दीवान होते हुए भी ये संसार से विरक्त ही रहते थे। एक बार उन्होंने स्वप्न में देखा कि वे नदी में बहते जा रहे हैं तथा एक महात्मा द्वारा नदी से बाहर निकाले

जाते हैं। स्वप्न की ऐसी छाप पड़ती है कि रामचरणजी घरवार छोड़कर अपना जीवन रक्षक महात्मा की तलाश में निकल पड़ते हैं। शाहपुरा के निकट दांतड़ा ग्राम में उन्हें महात्मा के दर्शन हो जाते हैं जहां वे महात्मा के पास दीक्षा ग्रहण करते हैं तथा भीलवाड़ा में प्रचार करने लगते हैं। कुछ समय के पश्चात् शाहपुरा के तत्कालीन महाराजा के आग्रह पर आप शाहपुरा आकर तपस्या करते हैं। लोग धीरे धीरे आपकी ओर आकर्षित होते है तथा 'राम' सम्प्रदाय का जन्म होने लगता है।

रामचरणजी महाराज की 'वाणी' में रामनाम को महामन्त्र तथा उसी को 'सूक्ष्म-वेद' की संज्ञा दी गयी है। वाणी में स्थान स्थान पर कहा गया है—

राम नाम लिख पत्थर तराई, भगत हित औतार ही घर ही।
ऊंच नीच भेद विचरि, सातों जन्म आपणो हारे।
संता के कुल दीसे नाहीं, राम राम कहे राम सनेही॥

रामस्नेही सम्प्रदाय के अनुयायी साधुओं में से किसी योग्य एवं विद्वान् साधु को अपना महन्त चुन लेते हैं और उसे 'गद्दी पर बैठाना' कहते हैं। मेले के दिनों में पंचमी तक वाणी के जुलूस को बारहदरी तक पहुंचा कर भक्त लोग बारी-बारी से महन्तजी को दण्डवत् प्रणाम करते हैं। तत्पश्चात रामस्नेही साधु एक कतार में बैठकर भोजन करते हैं।

मेले में भीलवाड़ा आदि स्थानों से दुकानें आती हैं। काठ की कंठी और माला की बड़ी बिक्री होती है। मेले के प्रथम दिन असंख्य ग्रामीण एकत्रित होते हैं और चंग आदि पर लोकगीत गाते हैं। मेले में ये लोग नये वस्त्र पहनते हैं तथा मस्ती के आलम में अलगोझे पर तरह तरह की धुनें निकालते हुए झुण्ड के झुण्ड सामूहिक नाच गानों का आयोजन करते हैं।

चातुर्मास की अवधि, में महन्तजी अक्सर शाहपुरा के बाहर ही व्यतीत करते हैं। इसके लिए अनेक भक्त अपने अपने गांवों में पावस व्यतीत करने के लिये उनसे निवेदन करते हैं। मेले पर ही पंचमी के दिन महन्तजी के निर्णय की घोषणा की जाती है कि आगामी चतुर्मास में उनका निवास कहां होगा। रामस्नेही साधु साधारणतः न तो किसी वाहन के द्वारा यात्रा करते हैं—न जूते पहनते हैं और न छतरी ही लगाते हैं। साधु, बारी बारी से प्रति दिन प्रातःकाल गांव में भिक्षा के लिये आते हैं और उससे ही अपनी क्षुधापूर्ति करते हैं। महन्तजी भी इसी भिक्षा में से अपने लिये यत्किंचित भाग ले लेते हैं।

राजस्थान में मुख्यतः माहेश्वरी जाति के लोग इस सम्प्रदाय में आस्था रखते हैं किन्तु अन्य स्थानों पर अग्रवाल तथा गुजराती महाजन भी रामस्नेही सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

☐ ☐